



श्री उमास्वामी विरचित-

प्रोक्षणान्

(तत्त्वार्थसूत्र)

सचित्र और सटीक

(प. फुलचन्दजी मिहान्तशास्त्री कृत ५६ प्रशोत्तर सहित)

टीकाकार:-

पं. पन्नालालजी जैन 'वसन्त'

साहित्याचार्य पी. एब. डी. (सागर)



टाइप सेटिंग एवं ऑफसेट प्रिन्टिंग

शीलेश डाह्याभाई कापड़िया
दिगम्बर जैन पुस्तकालय,

'जैनविजय' लेसर प्रिन्टस्

गांधीचौक, सुरत-३

बारहवीं आवृत्ति] भव्य हक स्वार्थीन [बीर स. २५२५

मूल्य- ५०-००

प्रकाशकीय निवेदन-

जैनसमाजको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) कितना भरत्पूर्ण ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र पर बीसों छोटी बड़ी टिकाएँ हुई हैं, और इसीके आधारपर कई ग्रंथ लिखे गये हैं—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, अर्थप्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसीकी टीकाएँ हैं। इस मोक्षशास्त्रको बालकोंसे लेकर महा पंडित तक पढ़ते हैं। बहुत समयसे इसकी बालकोपयोगी टीकाकी आवश्यकता थी, अतः सर्वप्रथम स्व. पं. पश्चालालजी बाकलीबालने इसकी बालबोधिनी टीका की। इसके बाद भी १-२ टीकाएँ और प्रकट हुई, परं वे बहुत अपूर्ण थीं।

इसलिये हमारे अनुरोधसे साहित्यचार्य पं. पश्चालालजी जैन 'बसंत' सागरने यह सुनोध सरल एवं सर्वांग-सुन्दर टीका तैयार की। यह टीका इतनी उत्तम सिद्ध हुई है कि अत्य समयमें ही इसकी दश आवृत्तियाँ समाप्त हो गईं। अतः इस अपार मंहगाईमें भां हम इसकी 'पारहर्वी आवृति प्रकट' कर रहे हैं।

तीसरी आवृत्तिसे इसमें श्री पं. फूलचन्दजी जैन सिद्धान्त शास्त्री बाराणसीकृत ५६ प्रश्नोत्तर जोड़ दिये गये थे जो इस आवृत्ति में भी प्रकट किये गये हैं, जिससे छात्रों व स्वाध्याय-प्रेमियोंको तत्त्वार्थसूत्रके गहन विषयोंका ज्ञान हो सकेगा।

चित्र, नक्से, चार्ट, नोट, प्रश्नोत्तर, तत्त्वार्थसूत्र पूल, लक्षणसंग्रह, विषयसूची, तीन परीक्षालयोंके प्रश्नपत्र एवं कम्प्युटर टाईप सेटिंग और ओफसेट प्रिन्टिंग आदिसे यह ग्राहकहर्वी आवृति ऐसी सर्वांग सुन्दर बनाई गई है कि यह ग्रन्थ छात्रोंके समझने में बहुत सुलभ हो जायगा और इन्हें ध्यानसे समझनेवाले छात्र कभी अनुजीर्ण नहीं हो सकेंगे।

इस ग्रन्थके बिद्वान टीकाकार श्री पं. पश्चालालजी साहित्यचार्य जैन "बसंत" सागर तथा प्रश्नोत्तर तैयार करनेवाले श्री पं. फूलचन्दजी जैन सिद्धान्तशास्त्री बनारसने इसके निर्माणमें जो अश्रक परिश्रम किया है उसके लिये हम तथा जैन समाज आपकी चिरकाल तक अत्यन्त आभारी रहेगी। हर्वे हैं कि अब सभी दिगम्बर जैन शिक्षा-संस्थाओंमें यही टीका बालू हो गड़े हैं।

बीर मं. २५२७

सूरन

निवेदक-

शैलेश डाह्याभाई कापड़िया, प्रकाशक

अनुवादकके दो शब्द

"तत्त्वार्थसूत्र" जैनागमका अत्यन्त प्रसिद्ध शास्त्र है। इसकी रचनाशैलीने तात्कालिक तथा उसके बादके समस्त विद्वानोंको अपनी ओर आकृष्ट किया है। जही कारण है कि उसके लिए पूज्यापाद, अकलंकस्वामी तथा विद्यानन्द आदि आचार्योंने महाभाष्य रचे हैं। तत्त्वार्थसूत्र जिस तरह दिग्म्बर आम्नायमें सर्व मान्य है उसी तरह श्वेताम्बर आम्नायमें भी सर्व मान्य है।

इस ग्रन्थमें आचार्य उपास्वामीने पथभांति संसारी पुरुषोंको मोक्षका सच्चा मार्ग बतलाया है— "सम्यगदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता ही मोक्षका मार्ग है। मोक्षमार्गका प्ररूपण होनेके कारण ही मोक्षका दूसरा नाम 'मोक्षशास्त्र' भी प्रचलित हो गया है। मोक्षमार्ग—सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का इस ग्रन्थमें विशद विवेचन किया गया है।

प्रथम अध्यायमें सम्यगदर्शन और सम्यग्ज्ञान विवेचन है।

दूसरे अध्यायमें सम्यगदर्शनके विषयभूत जीवतत्वके असाधारण भाव, लक्षण, इन्द्रियों, योनि, जन्म तथा शरीरादिका वर्णन है।

तीसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका निवासस्थान बतलानेके लिये नरकलोक और मध्यलोकका सुन्दर प्ररूपण है।

चतुर्थ अध्यायमें ऊर्ध्वलोक तथा चार प्रकारके देवोंके निवासस्थान, भेद, आयु, शरीर आदिका वर्णन किया गया है।

पाँचवें अध्यायमें अजीव तत्त्वका सुन्दर निरूपण है।

छठवें अध्यायमें आस्रव का वर्णन करते हुए आठों कर्मोंके आस्रवके कारण बतलाये हैं जो सर्वथा मौलिक हैं।

सातवें अध्यायमें शुभास्वरका वर्णन करनेके लिये सर्वप्रथम तत्त्वसामान्यका स्वरूप बतलाकर श्रावकाचारका स्पष्ट वर्णन किया गया है।

आठवें अध्यायमें बास्तवतत्त्वके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश नामक भेदोंका रोचक व्याख्यान है।

नववें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन है। इन दोनों तत्त्वोंका वर्णन अपने ढंगका निराला ही है। और दसवें अध्यायमें मोक्षतत्त्वका सरल संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

संक्षेपमें इस ग्रन्थमें सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा उनके विविधभूत जीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्वका वर्णन हैं।

अभीतक जैन सम्प्रदायमें धर्मशास्त्रके जितने ग्रन्थ देखनेमें आये हैं उन सबमें तत्त्वोंका निरूपण दो रीतियोंसे किया गया हैं। एक रीति तो यह है जिसे आचार्य श्री उमास्वामीने प्रचलित किया हैं और दूसरी रीति यह है जिसे आचार्य नेमिचन्द्राचार्यने ध्वलसिद्धांतके आधार पर गोमटसारमें बीस प्रस्तुपणाओंका वर्णन करते हुए प्रचलित किया है। तत्त्वनिरूपणकी दोनों रीतियाँ उत्तम हैं, अपने अपने ढंगकी अनुपम हैं। इसमें संदेह नहीं, परन्तु आचार्य उमास्वामी द्वारा प्रचलित हुयी रीतिको उनके आदके विद्वानोंने जितना अपनाया है। अपनी रचनाओंमें उस रीतिको स्थान दिया है उतना दूसरी रीतिको नहीं।

गोमटसारकी शीलीका गोमटसार ही है अथवा उसका मूलभूत ध्वलसिद्धांत, परन्तु उमास्वामीकी शीलीसे तत्त्वप्रतिषादन करनेवाले अनेक ग्रन्थ हैं।

पूज्यपाद अकलंक, विद्यानन्द तो उनके व्याख्याकार-भाष्यकार ही कहलाये, परन्तु अमृतचन्द्रसूरि, अमितगत्याचार्य, जिनसेन आदिने

भी अपने ग्रन्थोंमें उसी पद्धतिको अपनाया है। अस्तु, इन सब बातोंसे प्राकृत ग्रन्थ और आचार्य उमास्वामीका गौरव अत्यन्त बढ़ गया है।

मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्रके उपर अनेक ठीकाये प्रकाशित हो चूकी हैं, जो एकसे एक उत्तम हैं। परन्तु फिर भी छात्रोंको कई विषय समझनेमें कठिनाई पड़ती थी अतः उनकी कठिनाईयों को कुछ अंशोंमें दूर करनेके लिये मैंने यह प्रयत्न किया है।

पुस्तककी टिप्पणीकी, नोट, चार्ट, नक्शा तथा आवश्यक भावार्थ वर्गीकरणको सरल और सोचक बनानेका उद्योग किया गया है। साथमें पं. फूलचन्दजी मिष्टांतशास्त्री बनारस द्वारा लिखित परिशिष्ट भी संयुक्त कर दिया है जिसमें स्वाम्यान-प्रेणी मञ्जन भी यथोचित लाभ उठा सकते हैं।

अल्पकालमें ही बारहवीं आवृति निकालनेका जो अवसर प्राप्त हुआ है उससे हमारे पाठकोंका आचार्यश्री उमास्वामी और उनके इस अनुष्म प्रन्थरतपर स्वाभाविक प्रेम प्रकट होता है। यदि छात्रोंको कुछ अंशोंमें लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूँगा।

एक बात और है वह यह कि इस ग्रन्थका प्रचार देखा कुछ लोगोंने इसमेंसे कितने ही अंश ले-लेकर अपनी पुस्तकोंमें आत्मसात कर लिये हैं और उसपर कुछ उल्लेख भी नहीं किया है जो ठीक नहीं है। विद्वानोंमें इतनी कृतज्ञता तो चाहिये ही।

प्रमाद एवं अज्ञानसे अनेक त्रुटियोंका रह जाना सम्भव है, अतः विद्वदगण मुझे क्षमा करते हुये सौहार्दभावसे उन त्रुटियोंको सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे आगामी संस्करणमें वे त्रुटियां न रह सकें।

विषय-सूची

| विषय | अध्याय | सूत्र | विषय | अध्याय | सूत्र |
|--------------------------------|--------|-------|-----------------------------------|--------|-------|
| मोक्षकी ग्रामिका उपाय | १ | १ | मनःपर्यय ज्ञानका विषय | १ | २६ |
| सम्यग्दर्शनका स्वरूप | १ | २ | केवलज्ञानका विषय | १ | २७ |
| सम्यग्दर्शनके भेद | १ | ३ | एकसाथ कितने ज्ञान- | | |
| सात तत्त्व | १ | ४ | हो सकते हैं ? | १ | ३० |
| चार निष्क्रेप | १ | ५ | भूति श्रुति और अवधिज्ञानमें- | | |
| सम्यग्दर्शन आदिके- | | | प्रियापन | १ | ३१ |
| ज्ञाननेके उपाय | १-६ | ६ | प्रियाहृष्टिका ज्ञान- | | |
| सम्यग्दर्शनके भेद व नाम | १ | ७ | प्रियाज्ञान है | १ | ३२ |
| प्रमाणका स्वरूप | १ | १० | नीबोंके भेद | १ | ३३ |
| परोक्ष प्रमाण | १ | ११ | प्रश्नावली- प्रथम अध्याय । | | |
| प्रत्यक्ष प्रमाण | १ | १२ | जीवके असाधारण भाव | २ | १ |
| प्रतिज्ञानके दूसरे नाम | १ | १३ | औपशमिकादि भावोंके | | |
| प्रतिज्ञानकी उत्पत्ति, | | | भेदोंकी गणना | २ | २ |
| कारण व स्वरूप | १ | १४ | औपशमिकादि भावके भेद | २ | ३ |
| प्रतिज्ञानके भेद | १ | १५ | क्षायिक भावके भेद | २ | ४ |
| अवग्रहके विषयभू पदार्थ | १ | १६ | क्षायोपशमिक के भेद | २ | ५ |
| बहुआदि पदार्थके भेद | १ | १७ | औद्यिक भावके भेद | २ | ६ |
| अवग्रहमें विशेषता | १ | १८-१९ | पारिणामिक भावके भेद | २ | ७ |
| श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति, भेद | १ | २० | जीवका लक्षण | २ | ८ |
| भवप्रत्यय अवधिज्ञानके स्वामी १ | २१ | | उपयोगके भेद | २ | ९ |
| क्षयोपशम नियन्तक- | | | जीवके भेद | २ | १० |
| अवधिज्ञानके भेद | १ | २२ | संसारी जीवोंके भेद | २ | ११ |
| मनःपर्यय ज्ञानके भेद | १ | २३ | संसार जीवोंके भेद | २ | १२ |
| ऋजुमति और विपुलमतिये- | | | स्थावर जीवोंके भेद | २ | १३ |
| विशेषता १ | | २४ | इस जीवोंके भेद | २ | १४ |
| अवधि और मनःपर्यय- | | | इन्द्रियोंकी गणना | २ | १५ |
| ज्ञानमें विशेषता १ | १ | २५ | इन्द्रियोंके मूल भेद | २ | १६ |
| प्रतिश्रुतज्ञानका विषय | १ | २६ | द्रव्येन्द्रियका स्वरूप | २ | १७ |
| अवधिज्ञानका विषय | १ | २७ | | | |

| विषय | अध्याय | सूत्र | विषय | अध्याय | सूत्र |
|-------------------------------|---------|-------|-------------------------------|---------|-------|
| भावेन्द्रियके स्वरूप | २ | १८ | जम्बुद्वीपका विस्तार | ३ | ९ |
| पांच इन्द्रियोंके नाम | २ | १९ | सात क्षेत्रोंके नाम | ३ | १० |
| पांच इन्द्रियोंके विषय | २ | २० | कुलाचलोंके नाम | ३ | ११ |
| मनका विषय | २ | २१ | कुलाचलोंके वर्णन | ३ | १२ |
| इन्द्रियोंके स्वामी | २ २२-२३ | | कुलाचलोंका आकार | ३ | १३ |
| समनस्क परिभाषा | २ | २४ | सरोवरोंका वर्णन | ३ | १४ |
| विग्रहगतिका वर्णन | २ २५-२० | | प्रथम सरोवरका नाम | ३ | १५ |
| जन्मके भेद | २ | २१ | प्रथम सरोवरकी गहराई | ३ | १६ |
| योनियोंके भेद | २ | २२ | प्रथम सरोवरके कमल | ३ | १७ |
| गर्भ जन्मके स्वामी | २ | २३ | घटापद्म आदि सरोवर- | | |
| उपपाद जन्मके स्वामी | २ | २४ | तथा उनमें रहनेवाले- | | |
| संमृद्धिन जन्मके स्वामी | २ | २५ | कमलोंका वर्णन | ३ | १८ |
| शरीरके नाम व भेद | २ | २६ | कमलोंकी देवियाँ | ३ | १९ |
| शरीरोंका वर्णन | २ | २७ | चौदह महानदियोंके नाम | ३ | २० |
| औदारिक शरीरका लक्षण | २ | ४५ | नदियोंके बहनेका क्रम | ३ २१-२२ | |
| वैक्रियिकका लक्षण | २ | ४६-४७ | सहायक नदियाँ | ३ | २३ |
| तैजस शरीर भी अद्वि- | | | भरतक्षेत्र का विस्तार | ३ | २४ |
| निमित्तक होता है | २ | ४८ | आगे के क्षेत्र और- | | |
| अहारक शरीरका लक्षण | २ | ४९ | पर्वतों का विस्तार | ३ | २५ |
| सिङ्गुके स्वामी | २ ५०-५२ | | विदेह क्षेत्रके आगे के पर्वत- | | |
| अकाल मृत्यु किनकी- | | | और क्षेत्रोंका विस्तार | ३ | २६ |
| नहीं होती | २ | ५३ | भरत ऐरावत क्षेत्रमें कालका- | | |
| प्रश्नावली - द्वितीय अध्याय । | | | परिवर्तन | ३ | २७ |
| सात नरक | ३ | १ | अन्य भूमि व्यवस्था | ३ | २८ |
| नरकोंमें विलोंकी संख्या | ३ | २ | हैरप्रवत आदि क्षेत्रोंमें- | | |
| नारकियों के दुःख | ३ | ३-५ | आयुकी व्यवस्था | ३ | २९ |
| नारकियोंकी आयु | ३ | ६ | हरप्रवत आदि क्षेत्रोंमें - | | |
| कुछ द्वीप समुद्रोंके नाम | ३ | ७ | आयुकी व्यवस्था | ३ | ३० |
| द्वीप और समुद्रोंके विस्तार- | | | विदेह क्षेत्रमें आयुकी व्य. | ३ | ३१ |
| और आकाश | ३ | ८ | भरतक्षेत्र का विस्तार | ३ | ३२ |

| विषय | अध्याय | सूत्र | विषय | अध्याय | सूत्र |
|------------------------------------|--------|-------|-----------------------------------|--------|--------|
| धातकीखण्डका वर्णन | ३ | ३३ | वैमानिक देवोंमें लेश्याका- | | |
| पुष्करार्थका वर्णन | ३ | ३४ | वर्णन | ४ | २२ |
| मनुष्य क्षेत्र | ३ | ३५ | कल्पसंज्ञा कही तक ? | ४ | २३ |
| मनुष्यों के भेद | ३ | ३६ | लौकार्तिक देवोंका निवास- | | |
| कर्मभूमिका वर्णन | ३ | ३७ | और नाम | ४ | २४-२५ |
| मनुष्यों को उत्कृष्ट और | | | अनुदिश तथा अनुनास- | | |
| जघन्य स्थिति | ३ | ३८ | वासी देवोंके नियम | ४ | २६ |
| विमानकी उत्कृष्ट स्थिति | ३ | ३९ | तिर्यक कीन है ? | ४ | २७ |
| | | | भवनवासी देवीकी- | | |
| प्रश्नावलि - तृतीय अध्याय । | | | | | |
| देवोंके भेद | ४ | १ | उत्कृष्ट आयु | ४ | २८ |
| भवनश्रिक देवोंमें लेश्याका- | | | वैमानिक देवोंकी आयु | ४ | २९-३२ |
| विभाग | ४ | २ | स्वर्गीयोंमें जघन्य आयु | ४ | ३३-३४ |
| चार निकायोंके प्रभेद | ४ | ३ | नारकियोंकी आयु | ४ | ३५-३६ |
| देवोंमें सामान्य भेद | ४ | ४-५ | भवनवासियोंकी आयु | ४ | ३७ |
| देवोंके इन्द्रोंकी व्यवस्था | ४ | ६ | व्यन्तरोंकी जघन्य आयु | ४ | ३८ |
| देवोंमें स्त्री सुखका वर्णन | ४ | ७-९ | व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु | ४ | ३९ |
| भवनवासीके १० भेद | ४ | १० | ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट आयु | ४ | ४० |
| व्यन्तर देवोंके ८ भेद | ४ | ११ | ज्योतिषियोंको जघन्य आयु | ४ | ४१ |
| ज्योतिषी देवोंके ५ भेद | ४ | १२ | स्त्रीकार्तिक देवोंकी आयु | ४ | ४२ |
| ज्योतिषी देवोंके वर्णन | ४ | १३-१५ | | | |
| वैमानिक देवोंका वर्णन | ४ | १६ | प्रश्नावली चतुर्थ अध्याय । | | |
| वैमानिक देवोंके भेद | ४ | १७ | अर्जीकास्तिकाय | ५ | १ |
| कल्पोंका स्थितिक्रम | ४ | १८ | द्रव्यों की गणना | ५ | २-३-३१ |
| स्वर्ण आदिके नाम | ४ | १९ | द्रव्यों की विशेषता | ५ | ४-७ |
| ग्रीवेषक और अनुदिश | ४ | १९ठि. | द्रव्योंके प्रदेश वर्णन | ५ | ८-११ |
| वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर- | | | द्रव्योंके उपकार वर्णन | ५ | १७-२२ |
| अधिकता | ४ | २० | पुरुगलकी पर्याय | ५ | २४ |
| वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर- | | | पुरुगलकी उत्पन्निके कारण | ५ | २६-२८ |
| हीनता | ४ | २१ | द्रव्यका लक्षण | ५ | २९ |
| | | | सत्का लक्षण | ५ | ३० |

| विषय | अध्याय | सूत्र | विषय | अध्याय | सूत्र |
|------------------------------|--------|----------------------------------|--------------------------|--------|-------|
| नित्यका लक्षण | ५ | ३१ सब आयुओंका- | सामान्य आस्त्रव | ६ | १९ |
| एक ही द्रव्य में विसर्जन | | | देख आयुका आस्त्रव | ३ | २०-२१ |
| धर्मोंका संबन्ध | ५ | ३२ अशुभनाम कर्मका आस्त्रव | ६ | २२ | |
| परमाणुओंमें जन्म | ५ | ३३-३७ शुभ नामकर्मका आस्त्रव | ६ | २३ | |
| द्रव्यका प्रकारान्तरसे लक्षण | ५ | ३८ तीर्थद्वारा नामकर्मका आस्त्रव | ६ | २४ | |
| कालद्रव्यका वर्णन | ५ | ३९-४० नीचगोद्रका आस्त्रव | ६ | २५ | |
| गुणका लक्षण | ५ | ४१ उच्चगोद्रका आस्त्रव | ६ | २६ | |
| पर्यायका लक्षण | ५ | ४२ अन्तरायका आस्त्रव | ६ | २७ | |
| प्रश्नावली- पंचम अध्याय। | | | प्रश्नावली षष्ठी अध्याय। | | |
| योगके भेद व स्वरूप | ६ | १ ब्रह्मका लक्षण | ७ | १ | |
| आस्त्रवका स्वरूप | ६ | २ ब्रह्मके भेद | ७ | २ | |
| आस्त्रवके भेद | ६ | ३ ब्रह्मोक्ती स्थिति | ७ | ३ | |
| स्वार्थीकी अपेक्षा- | | अहिंसाब्रह्मकी पांच भावनाएँ | ७ | ४ | |
| आस्त्रवके भेद | ६ | ४ सत्यब्रह्मकी भावनाएँ | ७ | ५ | |
| साम्प्रायिक आस्त्रवके भेद | ६ | ५ अचौर्य ब्रह्मकी भावनाएँ | ७ | ६ | |
| आस्त्रवकी विशेषता | ६ | ६ ब्रह्मचर्य ब्रह्मकी भावनाएँ | ७ | ७ | |
| अधिकरणके भेद | ६ | ७ परिग्रह त्यागकी भावनाएँ | ७ | ८ | |
| जीवाधिकरणके भेद | ६ | ८ हिंसादि पांच पापोंके | | | |
| अजीवाधिकरणके भेद | ६ | ९ विषयमें विचार | ७ | ९-१० | |
| ज्ञानावरण और दर्शना- | | निरन्तर चिन्तावन करने- | | | |
| बरणके आस्त्रव | ६ | १० योग्य भावनाएँ | ७ | ११ | |
| असानावेदनीयके आस्त्रव | ६ | ११ संसार और शरीरके- | | | |
| सानावेदनीयके आस्त्रव | ६ | १२ स्वरूपका विचार | ७ | १२ | |
| दर्शनमोहनीय आस्त्रव | ६ | १३ हिंसा पापका लक्षण | ७ | १३ | |
| चारित्र मोहनीयके आस्त्रव | ६ | १४ हृषि पापका लक्षण | ७ | १४ | |
| नरक आयुका आस्त्रव | ६ | १५ चोरी पापका लक्षण | ७ | १५ | |
| निर्देश आयुका आस्त्रव | ६ | १६ कुशीलका लक्षण | ७ | १६ | |
| मनुष्य आयुका आस्त्रव | ६ | १७-१८ परिग्रहका लक्षण | ७ | १७ | |

| विषय | अध्याय | सूत्र | विषय | अध्याय | सूत्र |
|--|--------|-------|--|--------|-------|
| ब्रतोंकी विशेषता | ७ | १८ | ज्ञानावरणके पाचभेद | ८ | ६ |
| ब्रतोंके भेद लक्षण | ७ | १९ | दर्शनावरणके ९ भेद | ८ | ७ |
| अगारीका लक्षण | ७ | २० | वेदनीयके २ भेद | ८ | ८ |
| सात शीलब्रत | ७ | २१ | पोहनीयके २८ भेद | ८ | ९ |
| पद्मोद्धान्तका उपचार | ८ | २२ | आधुकार्यके ३ सिद्ध | ८ | १० |
| सम्यगदर्शनके अतिचार | ७ | २३ | नामकर्मके ४२ भेद | ८ | ११ |
| पर्चिव्रत और सात शीलोंके अतिचारोंकी संख्या | ७ | २४ | गोत्रकर्मके २ भेद | ८ | १२ |
| अहिसाणुब्रत अतिचार | ७ | २५ | अन्तरायके ५ भेद | ८ | १३ |
| सत्याणुब्रतके अतिचार | ७ | २६ | ज्ञाना०, दर्शना०, -वेदनीय अन्तरायकी स्थिति | ८ | १४ |
| अचीर्याणुब्रतके अतिचार | ७ | २७ | नाम और गोत्रकी स्थिति | ८ | १५ |
| स्वाच्छायाणुब्रतके अतिचार | ७ | २८ | आयु कर्मकी वेदनीयकी जघन्य स्थिति | ८ | १६ |
| परिग्रहपरिमाणाणुब्रतके अतिचार | ७ | २९ | नाम और गोत्रकी ज. स्थिति | ८ | १७ |
| दिव्यब्रतके अतिचार | ७ | ३० | शेष कर्मोंकी स्थिति | ८ | १९ |
| सामाधिक शिक्षाब्रतके अतिचार | ७ | ३१ | अनुभव बंधका लक्षण | ८ | २१-२२ |
| प्रोष्ठधोपबासके अतिचार | ७ | ३२ | फलके बाद निर्जरा | ८ | २३ |
| उपभोग्यरिभोग्यपरिमाण- | ७ | ३३ | प्रदेशबन्ध | ८ | २४ |
| ब्रतके अतिचार | ७ | ३४ | पुण्यप्रकृतियां | ८ | २५ |
| अतिथिसंविभाग अतिचार | ७ | ३५ | पापप्रकृतियां | ८ | २६ |
| सङ्केतना अतिचार | ७ | ३६ | प्रश्नावली अष्टम अध्याय । | | |
| दानका लक्षण | ७ | ३७ | संवरका लक्षण | ९ | १ |
| दानकी विशेषता | ७ | ३८ | संवरके कारण | ९ | २-३ |
| प्रश्नावली सप्तम अध्याय : | | | गुसिका लक्षण | ९ | ४ |
| बन्धके कारण | ८ | १ | समितिके भेद | ९ | ५ |
| बन्धका स्वरूप | ८ | २ | धार्मके भेद | ९ | ६ |
| बन्धके भेद | ८ | ३ | अनुप्रेष्ठाओंके भेद | ९ | ७ |
| प्रकृति बन्धके मूलभेद | ८ | ४ | परिग्रह सहन उपदेश | ९ | ८ |
| प्रकृति बन्धके उत्तरभेद | ८ | ५ | बाईस परिषद | ९ | ९ |

| विषय | अध्याय | सूत्र | विषय | अध्याय | सूत्र |
|------------------------|---------|-------|----------------------------|-----------|-------|
| गुणस्थानोंकी अपेक्षा- | | | पात्रकी अपेक्षा- | | |
| परिषहोंका वर्णन | १०-१२ | | निर्जरामें न्यूनाधिकता | १ | ४५ |
| परिषहोंमें नियन्त | १३-१५ | | नियंत्रणाभूमिकोंके भेद | १ | ४६ |
| एकसाथ होनेवाले- | | | पुलकादिकी विशेषता | १ | ४७ |
| परिग्रहोंकी संख्या | १ | १७ | प्रश्नावली नवम अध्याय । | | |
| पाच चरित्र | १ | १८ | केवलज्ञानकी उत्पत्तिका- | | |
| आहु तपके भेद | १ | १९ | कारण १० | १ | |
| अन्तरंग तपके भेद | १ | २० | पोक्षका लक्षण १० | २ | |
| अन्तरंग तपके उत्तर भेद | १ | २२ | पोक्षमें कर्मोंके सिद्धाय- | | |
| प्रायश्चित्तके १ भेद | १ | २२ | किसका अभाव १० | ३-४ | |
| किनयके ४ भेद | १ | २३ | कर्मोंका क्षय होनेके- | | |
| वैयाकृत्यके दस भेद | १ | २४ | बाद ऊर्ध्वगमन १० | ५ | |
| स्वाध्यायके ५ भेद | १ | २५ | ऊर्ध्वगमनके कारण १० | ६ | |
| व्युत्सर्ग तपके दो भेद | १ | २६ | उत्तर चारों कारणोंके- | | |
| ध्यानका लक्षण | १ | २७ | क्रमसे दृष्टान्त १० | ७ | |
| ध्यानके भेद | १ | २८ | स्तोकाश्रके आगे नहीं- | | |
| ध्यानका फल | १ | २९ | जानेमें कारण १० | ८ | |
| आतंध्यानके ४ भेद | १ ३०-३३ | | मुक्त जीवोंके भेद १० | ८ | |
| आतंध्यानके स्वार्थी | १ | ३४ | अन्तिम इत्तोक १० | पृष्ठ २०४ | |
| रीढ़ध्यानके भेद | १ | ३५ | प्रश्नावली - दशम अध्याय । | | |
| धर्मध्यानका स्वरूप | १ | ३६ | शंका-सपाधान १० | पृष्ठ १८६ | |
| शुक्लध्यानका वर्णन | १ ३७-४४ | | लक्षण-संग्रह १० | पृष्ठ २२४ | |



मोक्षशास्त्रके कर्ता श्री उमास्वामीका संक्षिप्त जीवनचरित्र

आचार्यप्रबर श्री उमास्वामीका नाम 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक ग्रन्थके कारण अजर अमर हैं। यह ग्रन्थ जैनोंकी 'बाईबल' है। और खूबी यह है कि संस्कृत भाषामें सबसे पहला यही ग्रन्थ है। सचमुच आचार्य उमास्वामीजीने ही जैन सिद्धांतको प्राकृतसे संस्कृत भाषामें प्रकट करनेका श्री गणेश किया था और फिर तो इस भाषामें अनेकानेक जैनाचार्योंने ग्रन्थ रचना की।

श्री उमास्वामीकी मान्यता जैनोंके दोनों सम्प्रदायों-दिग्म्बर और श्वेतांबरोंमें समान रूपसे है। और उनका 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ भी दोनों सम्प्रदायोंमें श्रद्धाकी हाणिसे देखा जाता है।

किन्तु ऐसे प्रख्यात आचार्यके जीवनकी घटनाओंका ठीक हाल जात नहीं है। श्वेतांबरीय शास्त्रोंसे यह जरूर विदित है कि न्यायाधिका नामक नगरीमें उमास्वामीका जन्म हुआ था। उनके पिताका नाम स्वाति और माताका नाम बात्सी था। वह कौभीषणी गोत्रके थे, जिससे उनका ब्राह्मण या क्षत्री होना प्रकट है। उनके दीक्षागुरु ग्यारह अङ्गके धारक घोषनन्दि श्रमण थे और विद्याग्रहणकी हाणिसे उनके गुरु मूल नामक बाचकाचार्य थे। उमास्वाति भी बाचक कहलाते थे और उन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना कुसुमपुर नामक नगरीमें की थी।

दिग्म्बर शास्त्रोंमें उनके गृहस्थ जीवनका कुछ भी पता नहीं चलता है। साधु रूपमें वह भी कुन्दकुन्दाचार्यके पड़ु शिष्य बताये गये हैं और श्री 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचनाके विषयमें कहा गया है कि सौराष्ट्र देशके मध्य उर्जयन्तरिके निकट गिरनार नामके पत्तनमें आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विजकुलोत्पन्न श्वेतांबर भक्त "सिद्धय" नामक एक विद्वान श्वेतांबर मतके अनूकूल शास्त्रका जाननेवाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह एक सूत्र बनाया और उसे

एक पाटिये पर लिखा छोड़ा। एक समय चर्यार्थ श्रीगुद्धपित्ताचार्य 'उमास्वामी' नामके धारक मुनिवर आये और उन्होंने आहार लेनेके पश्चात् पाटियेको देखकर उसमें "सम्बक" शब्द जोड़ दिया।

जब वह सिद्धव्य विद्वान् वहांसे अपने घर आया और उसने प्रसन्न होकर अपनी मातासे पूछा कि, किन महानुभावने यह शब्द लिखा है ? माताने उत्तर दिया कि एक महानुभाव निर्गम्याचार्यने यह बनाया है। इस पर वह गिरि और अरण्यको ढूँढता हुआ उनके आश्रममें पहुँचा और भक्तिभावसे नम्भूत होकर उक्त मुनिमहाराजसे पूछने लगा कि आत्माका हित क्या है? मुनिराजने कहा-आत्माका हित 'मोक्ष' है। इसपर मोक्षका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय पूछा गया, जिसके उत्तररूपमें ही इस ग्रन्थका अवतार हुआ है। इसी कारण इस ग्रंथका अपरनाम "मोक्षशास्त्र" भी है। कैसा अच्छा वह समय था, जब दिग्म्बर और श्वेताम्बर आपसमें प्रेमसे रहते हुए धर्मप्रभावनाके कार्य कर रहे थे। श्वेताम्बर उपासक सिद्धव्यके लिये एक निर्गम्याचार्यका शास्त्र रचना करना इसी वात्सल्यभावनाका द्योतक है। यह निर्गम्याचार्य उमास्वामी ही थे। धर्म और उसके लिए उनने क्या क्या किया यह कुछ ज्ञात नहीं होता। इस कारण इन महान आचार्य के विषयमें इस संक्षिप्त वृत्तांतसे ही संतोष धारण करना पड़ता है। दिग्म्बर सम्प्रदायमें वह श्रुति मधुर 'उमास्वामी' और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें वह 'उमास्वाति' के नामसे प्रसिद्ध है:-बाबू कामताप्रसादजी कृत 'बीर पाठावलि' से।



मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थतूर) मूल

(आचार्य गुद्धपिच्छ)

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभुतां ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तदगुणलब्धये ॥

त्रैकाल्यं द्रव्य-षट्कं नव-घद-सहितं जीव-षट्काय लेश्याः ।

पंचान्ये चास्तिकाया द्वित-समिति-गति-ज्ञान-चारित्रभेदाः ॥

इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनं प्रहितैः प्रोक्तमहंद भिरीशैः ।

प्रत्येति श्रध्याति स्पृशति च पतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥१॥

सिद्धे जयप्प सिद्धे च उव्विहाराहणाफलं पत्ते ।

वंदिताअरहंते वौच्छं आराहणा कमसो ॥२॥

उज्जीवणमुज्जवणं पित्त्वहणं साहणं च पित्त्वहणं ।

दंसण-णाण चरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥ ३ ॥

सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥ तत्त्वार्थ-

श्रद्धानं-सम्यगदर्शनं ॥२॥ तत्रिसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥ जीवा-

जीवास्त्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वं ॥४॥ नाम-स्थापना-

द्रव्य-भावतस्तन्यासः ॥५॥ प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥ निर्देश-

स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः ॥७॥ सत्संख्या-

क्षेत्र-स्पृशन-कालांतर-भावात्पवहूत्वैश्च ॥८॥ मति-

श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानं ॥९॥ तत्त्वमाणे ॥ १० ॥

आद्ये परोक्षं ॥११॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥ मतिः स्मृतिः संज्ञा-

चिंता ऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरं ॥१३॥ तदिन्द्रियानिन्द्रिय-

निमित्तं ॥१४॥ अवग्रहेहावाय-धारणाः ॥१५॥ अहु-बहुविध-

क्षिप्रानि:-सृतानुकूलधुवाणां सेतराणां ॥१६॥ अर्थस्य ॥१७॥

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां ॥ १९ ॥
 श्रुतंमतिपूर्वद्वयनेकद्वादशभेदं ॥ २० ॥ भवप्रत्ययोऽवधिर्देव-
 नारकाणां ॥ २१ ॥ क्षयोपशम-निमित्तःषड्-विकल्पः
 शेषाणां ॥ २२ ॥ ऋजुविपुलमतीमनःपर्ययः ॥ २३ ॥ विशुद्धय-
 प्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥ विशुद्ध-क्षेत्रस्वामि-
 विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्यययोः ॥ २५ ॥ मति श्रुतयोर्निबन्धो-
 द्रव्येष्वसर्व-पर्ययेषु ॥ २६ ॥ रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥ तदनंतभागे
 मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥ सर्व द्रव्यपर्ययेषु केवलस्य ॥ २९ ॥
 एकादिनिभाज्यानियुगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥ मतिश्रुता-
 वधयोविपर्ययश्च ॥ ३१ ॥ सदसतोरविशेषाद्य-दृच्छोपलब्धे-
 रूपन्यत्तवत् ॥ ३२ ॥ नैगम-संग्रहव्यवहारजुं सूत्र-शब्द-
 समभिरुद्घैर्व-भूतानयाः ॥ ३३ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
 स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ॥ १ ॥ द्विनवाष्टा-दशैक-
 विंशतित्रिभेदायथाक्रमं ॥ २ ॥ सम्यक्त्व-चारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञान-
 दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञान-
 दर्शनलब्धयश्चतु-स्त्रित्रि-पंचभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमा-
 संयमाश्च ॥ ५ ॥ गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-
 सिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकषडभेदाः ॥ ६ ॥ जीव भव्या-
 भव्यत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणं ॥ ८ ॥ स द्विविधोऽष्ट-
 चतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥ समनस्का-

मनस्काः ॥११॥ संसारिणस्त्रास-स्थावराः ॥१२॥ पृथिव्यपेजो-
 वायु-वनस्पतयःस्थावराः ॥१३॥ दीन्द्रियादयस्त्रासाः ॥१४॥
 पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥ द्विविधानि ॥१६॥ निर्बुत्युपकरणे
 द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥ लब्ध्युपयोगी भावेन्द्रियं ॥१८॥ स्पर्शन-
 रसनाधाण-चक्षुः श्रोत्राणि ॥१९॥ स्पर्श-रस-गंध-चर्ण-
 शब्दास्तदर्थाः ॥२०॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥ वनस्पत्यंताना-
 मेकं ॥२२॥ कृभिपिपीलिका-भूमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि
 ॥२३॥ संज्ञिनःसमनस्काः ॥२४॥ विग्रहतौकर्मयोगः ॥२५॥
 अनुश्रेणी गतिः ॥२६॥ अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥ विग्रहवती
 च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥ एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥
 एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥३०॥ संमूच्छ्वर्णगर्भोपपादाजन्म ॥३१॥
 सचिन्तशीत-संवृत्ताः सेतरामिश्राश्रौकशस्तद्योनयः ॥३२॥
 जरायुजांडजपोतानांगर्भः ॥३३॥ देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥
 शेषाणांसमूच्छ्वर्णं ॥३५॥ औदारिक वैक्रियिका-हारक
 तैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥ परं परं सूक्ष्मं ॥३७॥
 प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥ अनन्तगुणे परे
 ॥३९॥ अप्रतीघाते ॥४०॥ अनादि संबंधे च ॥४१॥ सर्वस्य
 ॥४२॥ तदादीनि भाज्यानि-युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥
 निरुप भोगमन्त्यं ॥४४॥ गर्भसमूच्छ्वर्णजमादां ॥४५॥ औपपा-
 दिकं वैक्रियिकं ॥४६॥ लक्ष्मि-प्रत्ययं च ॥४७॥ तैजसप्रपि
 ॥४८॥ शुभंविशुद्धमव्याघातिचाहारकं प्रमत्त-संयतस्यैव
 ॥४९॥ नारकसंमूच्छ्वर्णो नपुंसकानि ॥५०॥ न देवाः ॥५१॥

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२ ॥ औपपादिक-चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षा-
युषोऽनपवत्याद्युषः ॥ ५३ ॥

इति तत्त्वाधाराधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूप-तमो-महातमः प्रभाभूमयो-
घनां बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्तोऽधोऽधः ॥१ ॥ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति-
पञ्चदशदशत्रि-पञ्चोनैकनरक-शतसहस्राणि-पञ्च-चैव यथा-
क्रमम् ॥ २ ॥ नारका नित्याऽशुभतर-लोक्या-परिणाम-देह-
वेदना-विक्रिया: ॥३ ॥ परस्परोदीरितदुःखाः ॥४ ॥ संविलष्टाऽसुरो
दीरितः दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥ तेष्वेक-त्रिसप्त-दश-
सप्तदश-द्वार्विंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा-सत्त्वानां परास्थितिः
॥६ ॥ जम्बूद्वीपलबणो-दादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७ ॥
द्विद्विष्कम्भोः पूर्व-पूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८ ॥ तन्मध्ये
मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९ ॥
भरत हैमवत-हरि विदेहरम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः
क्षेत्राणि ॥१० ॥ तद्विभाजिनः पूर्वपरायता हिमवन्महा-
हिमवन्निषध-नीलरुक्मि शिखरिणो वर्षधर-पर्वताः ॥ ११ ॥
हेमार्जुन तपनीयवैदूर्यरजत हेम मयाः ॥ १२ ॥ मणिविचित्र
पाश्र्वा उपरी मूले च तुल्य-विस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्म महापद्म-
तिगिच्छ केशरि-महापुण्डरीक पुण्डरीका-हृदास्तेषा-मुपरि
॥१४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदद्द्विष्कम्भो हृदः ॥१५ ॥
दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥
तद्विगुणद्विगुणाहृदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तत्रिवासिन्यो

देव्यः श्री हीं-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पत्न्योपमस्थितयः
 ससामानिक-परिषत्काः ॥ १९ ॥ गंगा-सिन्धु रोहिणोहि-तास्या
 हरिद्विरिकांताः सीता सीतोदा नारी नरकांता सुवर्णं रुच्यकूला-
 रक्तारक्तोदा: सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः
 ॥ २१ ॥ शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥ चर्तुदश नदीसहस्र-परिवृता
 गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥ भरतः षट् विंशति-
 पञ्चयोजनशत-विस्तारः षट् चैकोनविंशति-भागा योजनस्य
 ॥ २४ ॥ तद्विगुण-द्विगुण विस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥
 २५ ॥ उत्तरा दक्षिण-तुल्याः ॥ २६ ॥ भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौ
 षट्-सप्तयाभ्यामुत्सर्पिण्यव-सर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥ ताभ्याम-
 पराभूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥ एक द्वि-त्रि पत्न्योपमस्थितयो
 हैमवतक-हारिवर्षक-दैव कुरवकाः ॥ २९ ॥ तथोत्तराः ॥ ३० ॥
 विदेहेषु संख्येय-कालाः ॥ ३१ ॥ भरतस्य विष्कम्भो
 जम्बूद्वीपस्यनवति शत भागः ॥ ३२ ॥ द्विर्घातिकी खण्डे
 ॥ ३३ ॥ पुष्कराञ्छेच ॥ ३४ ॥ प्राइ-मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥
 आर्याम्लेच्छश्च ॥ ३६ ॥ भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र
 देवकुरुत्तर कुरुभ्यः ॥ ३७ ॥ नृस्थिती परावरे त्रिपत्न्योपमान्त
 मुहूर्ते ॥ ३८ ॥ तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे पौश्रशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्त-लेश्याः
 ॥ २ ॥ दशाष्ट पञ्चद्वादश विकल्पाः कल्पोपपत्रपर्यताः ॥ ३ ॥
 इन्द्रसामानिक त्रायस्त्रिंशत्यारि षटात्मरक्ष-लोकपालानीक
 प्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाशैकशः ॥ ४ ॥ त्रायस्त्रिंश-

लोकपाल-वर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोद्दीन्द्राः
 ॥६ ॥ काय प्रवीचाराआ ऐशानात् ॥ ७ ॥ शेषाः स्पर्शं रूपं
 शब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुर
 नागविद्युत्-सुपणांगिकात् स्तनितोदधि द्वीप दिक्कुमाराः
 ॥ १० ॥ व्यन्तराः किञ्चरकिं पुरुषं महोरगं गन्धर्वं यक्षं राक्षसं भूतं
 यिशाच्चाः ॥ ११ ॥ ज्योतिष्काः सूर्यां, चन्द्रमसौ ग्रहं नक्षत्रं
 प्रकीर्णकं तारकाश्च ॥ १२ ॥ मेरुप्रदक्षिणा नित्यं गतयो नुलोके
 ॥ १३ ॥ तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥
 वैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥ उपर्यु
 परि ॥ १८ ॥ सौधर्मैशान सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म ब्रह्मो तर
 लान्तवकापिष्ठ-शुक्रमहाशुक्रशत्तारसहस्रारेष्वानत-प्राणतयो-
 रारणा च्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयं वै जयन्ता पराजितेषु
 सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥ स्थिति प्रभावं सुखं द्युति लेश्या-
 विशुद्धिन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरं
 परिग्रहाभि मानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पीतं पद्मं शुक्लं लेश्या द्वि-
 त्रि शेषेषु ॥ २२ ॥ प्राग्ग्रैवेयं केभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥ ब्रह्म-
 लोका-लया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्यवहयरुण-
 गर्दतोय तुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥ विजयादिषु द्विं चरमाः
 ॥ २६ ॥ औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥
 स्थितिरसुरनाग-सुपण्डद्वीप शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्धं
 हीन-मिताः ॥ २८ ॥ सौधर्मैसानयोः सागरोपमे ऽधिके ॥ २९ ॥
 सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रि-सप्तनवैकादश-त्रयोदश-

पञ्चदशभिरधिकान्तिः ॥३१॥ आरणाच्युतादूर्ध्वमेकेन नवसु
 ग्रीवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥ अपरापल्योपमम
 धिकम् ॥३३॥ परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनंतरा ॥३४॥ नार
 काणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥ दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम्
 ॥३६॥ भवनेषु च ॥३७॥ व्यन्तराणां च ॥३८॥ परापल्यो
 पममधिकम् ॥३९॥ अन्योतिष्ठकाणां च ॥४०॥ तदष्ट-भागोऽपरा
 ॥४१॥ लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि च सर्वेषां ॥४२॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोङ्गशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अजीवकाया धर्माधर्मकाश-पुदगलाः ॥१॥ द्रव्याणि ॥२॥
 जीवाश्च ॥३॥ नित्यावस्थितान्यरुपाणि ॥४॥ रूपिणः पुदग
 लाः ॥५॥ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥ निष्क्रियाणि च
 ॥७॥ असंख्येयाः प्रदेशाधर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥ आकाश
 स्यानन्ताः ॥९॥ संख्येयासंख्येयाश्च पुदगलानाम् ॥१०॥
 नाणोः ॥११॥ लोकाकाशोऽवगाहः ॥१२॥ धर्माधर्मयोः
 कृत्स्ने ॥१३॥ एकप्रदेशादिषु भान्यः पुदगलानां ॥१४॥
 असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥ प्रदेश-संहारविसर्पाभ्यां
 प्रदीपवत् ॥१६॥ गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥
 आकाशस्यावगाहः ॥१८॥ शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद-
 गलानाम् ॥१९॥ सुखदुःखजीवित मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥
 परस्परोपग्रहोजीवानाम् ॥२१॥ वर्तना परिणाम क्रिया परत्वा
 परत्वे च कालस्य ॥२२॥ स्पर्श-रस गन्ध-वर्ण-वंतः
 पुदगलाः ॥२३॥ शब्द-बंधसौक्ष्य स्थौल्य-संस्थान-भेद-

तपश्छायातपो-द्योतवंतश्च ॥२४॥ अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥
 भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥२६॥ भेदादणुः ॥२७॥ भेद-संघाता
 भ्यां चाक्षुषः ॥२८॥ सद-द्रव्य-लक्षणम् ॥२९॥ उत्पादव्यय
 धीव्ययुक्तं यत् ॥३०॥ तद्वाकाल्यां नित्यम् ॥ ३१॥ न
 अर्थितानर्थितसिद्धेः ॥३२॥ स्त्रिगृह रुक्षत्वादव्ययः ॥३३॥ न
 जघन्य गुणानाम् ॥३४॥ गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥ द्विविधि
 कादि गुणानां तु ॥३६॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥
 गुणपर्यवद् द्रव्यम् ॥३८॥ कालश्च ॥३९॥ सोऽनन्त समयः
 ॥४०॥ द्रव्याश्रया-निर्गुणा गुणाः ॥४१॥ तद्भावः परिणामः
 ॥४२॥

इति नन्त्वाशार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पंचमोऽश्यायः ॥ ५ ॥

काय-बाङ्-मनः कर्म योगः ॥ १ ॥ स आस्त्रवः ॥ २ ॥
 शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥ सकषायाकषाययोः साप्त-
 रायिकेयापथयोः ॥ ४ ॥ इन्द्रियकषायायावत्-क्रियाः पंच चतुः
 पंचपञ्चविंशति संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥ तीव्रमन्दज्ञाताजात-
 भावाधिकरण-बीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥ अधिकरणं
 जीवाऽजीवाः ॥७॥ आद्यं संरम्भसमारंभारम्भ-योग-कृतकारिता
 नुभत कषाय-विशेषस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्च तुश्चैकशः ॥८॥ निवर्तना
 निक्षेप-संयोगनिसर्गा द्वि चतुर्द्वि त्रि भेदाः परम् ॥ ९ ॥
 तत्प्रदोषनिहृव-मात्सर्यान्तरायासादनोपयाता जानदर्शनावरण
 योः ॥१०॥ दुःखशोक तापाक्रन्दन वध परिदेवना न्यात्मपरोभय
 स्थानान्यसद् वेद्यस्य ॥११॥ भूतव्रत्यनुकम्पादान सरागसंयमादि

योगः शांतिः शीचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥ केवलि श्रुत संघ धर्म
 देवावर्णवादोदर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ कषायोदयातीव-
 परिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥ बह्वारम्भ परिग्रहत्वं
 नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥ माया-हैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥ अल्पारम्भ
 परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥ स्वभाव मार्दवं च ॥ १८ ॥ निः
 शीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥ सरागसंयम संयमासंयमा काम
 निर्जरा बालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥ सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ योग
 वक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नामः ॥ २२ ॥ तद्विपरीतं शुभस्य
 ॥ २३ ॥ दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता शीलद्रव्वतेष्वनतीचारोऽ
 भीक्षणज्ञानोपयोग संवेगौ शक्तितस्त्याग तपसीसाधुसमाधि
 वैयावृत्यकरण-भर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन-भक्तिरावश्यकापरि
 हाणि मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति-तीर्थकरत्वस्य
 ॥ २४ ॥ परात्म-निंदा प्रशंसे-सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च
 नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥ तद्विपर्ययोनीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य
 ॥ २६ ॥ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हिंसानृत स्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्द्वितम् ॥ १ ॥ देशसर्व-
 तोऽणु-महती ॥ २ ॥ तत्त्वैर्यार्थं भावनाः पंच-पंच ॥ ३ ॥ वाङ्-
 मनोगुप्तीर्थादान निक्षेपण समित्यालोकित पानभोजनानि पंच
 ॥ ४ ॥ क्रोधलोभ भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीची-भाषणं
 च पंच ॥ ५ ॥ शून्यागार विमोचितावास परोपरोधाकरण-
 भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥ स्त्री राग-कथा

श्रवणतन्मनोहरांगानिरोक्षण-पूर्वरतनुस्मरण-युधेष्टि-२१
 स्वशरीरसंस्कारत्यागःपंच ॥७॥ मनोज्ञामनोऽनेन्द्रिय-विषय-
 राग-द्वेषवर्जनानि पंच ॥८॥ हिंसादित्तिहापुत्रापायावद्यादर्शनं
 ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ पैत्री-प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि
 च सत्त्वगुणाधिक-विलश्यमानाऽविनयेषु ॥११॥ जगत्काय-
 स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ॥ १२॥ प्रमत्तयोगा-
 त्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३॥ असद्विधानमनृतम् ॥ १४॥
 अदत्तादानं स्तेयं ॥१५॥ मैथुनं ब्रह्म ॥१६॥ मूर्छा परिग्रहः
 ॥१७॥ निःशल्यो द्रवती ॥१८॥ अगार्द्यनगारश्च ॥१९॥
 अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥ दिग्देशानर्थदण्ड विरतिसामायिक-
 प्रोषधोपवासोप-भोगपरिभोग-परिमाणातिथि संविभागवत
 सम्पन्नश्च ॥२१॥ मारणान्तिकीं सखेभनां जोषिता ॥२२॥ शंका-
 कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसा संस्तवा:सम्यग्दृष्टेरतीचारा:
 ॥२३॥ व्रत शीलेषु पंच पंच यथाक्रमं ॥२४॥ बन्ध-बध-
 च्छेदातिमारोपणान्नपान-निरोथाः ॥ २५॥ मिथ्यो-पदेश
 रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकार-मन्त्रभेदाः
 ॥ २६॥ स्तेनप्रयोग तदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रम हीना-
 धिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥ परविवाह-
 करणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमना नंगक्रीडाकाम-
 तीक्ष्णाभिनिवेशाः ॥२८॥ क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्णधनधान्य-
 दासीदास-कुम्भप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥ उष्णवाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम
 क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥ आनयन-पेष्य-प्रयोग-
 शब्द-रुपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥३१॥ कन्दर्पकोत्कुव्यमौख्या

सपीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्षयानि ॥३२॥ योग-
दुःप्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥ अप्रत्यवेक्षिता-
प्रमार्जितोत्सगादान संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि
॥३४॥ सचित्त-संबंध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्षाहाराः ॥३५॥
सचित्त-निष्ठेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्व-कालातिक्रमाः
॥३६॥ जीवित-मरणा-शंसा-मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि
॥३७॥ अनुग्रहार्थ स्व-स्यातिसर्गोदानम् ॥३८॥ विधि-द्रव्य-
दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ॥ १॥
सकषायत्वाज्ञीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः
॥२॥ प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥ आद्योज्ञान-
दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायः ॥४॥ पञ्च-
नव-द्वयष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिशद्द्वि-यञ्च भेदायथाक्रमम्
॥५॥ मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥ चक्षुरचक्षुर-
वधिकेवलानां निद्रा-निद्रा-निद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-
स्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥ सदसद्वेद्ये ॥८॥ दर्शनचारित्र-मोहनीया-
कषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्वि-नव-षोडशभेदाः सम्यक्त्व-
मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-
भय-जुगुप्ता-स्त्री-पुन्नपुंसक-वेदा अनन्तानु-बन्ध्यप्रत्याख्यान
प्रत्याख्यान-संज्ञलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-
लोभाः ॥९॥ नारकतैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ॥१०॥ गति-
जाति-शरीराङ्गो-पाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-

संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघात-
परघातातपो-द्योतोच्छब्दास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-
सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेव यशःकीर्ति-
सेतराणितीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥ दान-
लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥ १३ ॥ आदितस्तिसृणा-
मंतरायस्य चत्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोट्यः परास्थितिः ॥ १४ ॥
सप्ततिमौहनीयस्य ॥ १५ ॥ विंशतिनामि-गोत्रयोः ॥ १६ ॥
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥ अपरा द्वादशा
मुहूर्तवेदनीयस्य ॥ १८ ॥ नाम-गोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥ शेषाणामन्त-
मुहूर्ता ॥ २० ॥ विषाकोञ्जुभवः ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥
ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ नाम-प्रत्ययाः सर्वतोयोग-विशेषात्
सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाः-स्थिताः सर्वात्मा-प्रदेहोऽन्तरात्मा-प्रदेशाः
॥ २४ ॥ सद्देव्य-शुभायुर्नामि-गोत्राणिपुण्यम् ॥ २५ ॥
अतोऽन्यत्यापम् ॥ २६ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे उष्टुपोऽध्यायः ॥ ८ ॥

आस्त्रव-निरोधः संवरः ॥ १ ॥ स गुप्ति-समिति-धर्मनुप्रेक्षा-
परीषहजय-चारित्रैः ॥ २ ॥ तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥ सम्यग्योग-
निग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥ ईर्याभाषेषणा दाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः
॥ ५ ॥ उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्यशौच-संयमतपस्त्यागा-
किञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥ अनित्याशरण-संसारैकत्वा-
न्यत्वाशुच्यास्त्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभधर्म-
स्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा: ॥ ७ ॥ मार्गाच्यवन-निर्जरार्थ-
परिषोडव्याः परीषहा: ॥ ८ ॥ क्षुत्पिणासा-शीतोष्णादंशमशक-

नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शाव्यक्रोश-वधयाचनालाभ-
 रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥१॥
 सूक्ष्मसाम्परायच्छब्दस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥ एकादशजिने
 ॥११॥ बादरसाम्परायेसर्वे ॥१२॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥
 दर्शनघोहान्तराययोरदर्शनालाभी ॥१४॥ चारित्रमोहेनाग्न्यारति
 स्त्री-निषद्या-क्रोश-याचना-सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥ वेदनाये
 शेषाः ॥१६॥ एकादयो भाज्यायुगपदेकस्मिन्नैकोनविंशते:
 ॥१७॥ सामायिकच्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धिसूक्ष्म-
 साम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥ अनशनावमौदर्य-
 वृत्तिपरिसंख्यान-रस-परित्याग-विविक्तशाव्यासनकायकलेशा
 बाह्यं तपः ॥१९॥ प्रायश्चित्त-विनयवैयावृत्य-स्वाध्याय-
 व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥ नवचतुर्दश-पञ्च द्विभेदा
 यथाक्रमं-प्राग्ध्यानात् ॥२१॥ आलोचना-प्रतिक्रमणतदुभय-
 विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥२२॥ ज्ञान-
 दर्शन-चारित्रोपचाराः ॥२३॥ आचार्योपाध्याय-तपस्वि-
 शैक्ष्यग्लानगण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥ वाच-
 नापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥ बाह्याभ्यन्तरोपध्योः
 ॥२६॥ उत्तम-संहननस्यैकाय-चिन्ता-निरोधोध्यानमा-
 न्तर्मुहूतात् ॥२७॥ आर्ति-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ॥२८॥ परे
 मोक्ष-हेतू ॥२९॥ आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय
 स्मृतिसमन्वा-हारः ॥३०॥ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥
 वेदनायाश्च ॥३२॥ निदानं च ॥३३॥ तदविरत-देश-विरत-

प्रमत्तसंयतानाय् ॥ ३४ ॥ हिंसा-नृता-त्वोऽदिवाप्तसंक्षात् -
भ्योरीद्रमविरत-देशविरतयोः ॥ ३५ ॥ आज्ञापाय विपाक-
संस्थान-विच्चयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥ शुक्ले चाह्ये पूर्वविदः ॥
३७ ॥ परेकेवलिनः ॥ ३८ ॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रिया-
प्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥ अ्येकयोग-काययोगा-
योगानाम् ॥ ४० ॥ एकाश्रये सवितर्क-बीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥
अबीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥ वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥ बीचारोऽर्थ-
व्यञ्जन-योग संक्रान्तिः ॥ ४४ ॥ सम्यगदृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-
वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक-
क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जरा ॥ ४५ ॥ पुलाक-
वकुश-कुशील-निर्गन्ध-स्त्रातका निर्गन्ध्याः ॥ ४६ ॥ संयम-
श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपाद-स्थान-विकल्पतः
साध्याः ॥ ४७ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मोहक्षयाज्ञान-दर्शनावरणानन्तराय-क्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥
बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्व-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥
औपशमिकादि-भव्यत्वानां च ॥ ३ ॥ अन्यत्र केवल सम्यक्त्व
ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥ तदनन्तरमूर्ध्वगच्छत्यालोकनात् ॥
५ ॥ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वादबन्धच्छेदात्तथा गति-परिणामाच्च ॥
६ ॥ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतले पालो बुवदेरण्डबीज-
वदग्रिशिखावच्च ॥ ७ ॥ धर्मास्ति कायाभावात् ॥ ८ ॥ क्षेत्रकाल
गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर
संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अक्षर-मात्र पद-स्वर-हीनं, व्यंजन-संधि-विवर्जित-रेफम् ।
 साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्दे ॥१ ॥
 दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्वार्थे पठिते सति ।
 फलं स्यादुपवासस्य, भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥२ ॥
 तत्वार्थ-सूत्र-कर्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
 बन्दे गणीद्र-संजातमुमास्वामि-मुनीश्वरम् ॥३ ॥
 पदम् चउछ्वे पदमं पंचमे जाणि पुण्यालं तच्च ।
 छह सत्तमे हि आस्सब अटुमे बंधणायव्या ॥४ ॥
 एवमे संवर णिज्जर दहमे मोक्खं विद्याणोहि ।
 इह सत्त तच्च भणियं दह सुक्षेण मुणिं देहिं ॥५ ॥
 जं सङ्कड़तं कीरड़ जे पण सङ्कड़ तहेब सद्हणं ।
 सद्हमाणो जीवो, घावड़ अजरामरं ठाणं ॥६ ॥
 तवयरणं वयथरणं, संजमसरणं च जीव-दया-करणम् ।
 अन्ते समाहिभरणं, चउविह दुक्खं णिवारई ॥७ ॥
 अरहंत भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सब्वं ।
 पणभामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवयं सिरसा ॥८ ॥
 गुरवो पांतु वो नित्यं ज्ञान-दर्शन-नायकाः ।
 चारित्राणांव-गंभीराः मोक्ष-मार्गोपदेशकः ॥९ ॥
 कोटिशतं द्वादशचैव कोट्यो लक्षाण्यशीतिस्त्रधिकानिचैव ।
 पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यामेतद् श्रुतं पंचपदं नमामि ॥१० ॥
 इति तत्वार्थसूत्रापरनाम-तत्वार्थाधिगम-मोक्षशास्त्रं सप्तासम् ।



श्री उमास्वामी विरचित-

मोक्षशास्त्र सटीक

प्रथम अध्याय

मङ्गलाचरण

दोहा- वीरबद्रन-हिमगिरिनिकमि, फलौ जो जग रहा।
नव-तरङ्ग युत गङ्ग वह, क्षालै पाप अभङ्ग।

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्^१।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, बन्दे तदगुणलब्धये ॥

अर्थ- मैं मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्वतोंके भेदन करनेवाले और समस्त तत्त्वोंको जाननेवाले आपको उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये बन्दना करता हूँ।

विशेष- यद्यपि इस श्लोकमें विशेष्य-आपका निर्देश नहीं किया गया है नथापि विशेषणों द्वारा उसका धोध हो जाता है, क्योंकि मोक्ष मार्गका नेतृत्व, कर्मरूपी पर्वतोंका भेदन और समस्त तत्त्वोंका ज्ञातृत्व आप अर्थात् अहंत देवमें ही संभव होता है। यहां विशेष्यका उल्लेख न कर मात्र विशेषणोंका निर्देश कर बन्दना करनेवाले आचार्यने अपना यह

1. जो एवं पाप चलनकर अन्य एरुल्पोंको मारं प्रदर्शन करता है, वह नेता कहलाता है। 2. इष्टमिद्धिं गवतोंके समान वाभक होनेके कारण कमोंगे यवंदोंका आहोप किया गया है।

अभिप्राय प्रकट किया है कि मैं व्यक्ति विशेषका पूजक न होकर गुणोंका पूजक हूँ जिसमें मोक्षमार्गका नेतृत्व-हितोपदेशीपना, कर्मभूभूद् भेनृत्व-कीतरापना और विश्वतत्त्वज्ञानत्व-सर्वज्ञता ये तीन गुण हों, मैं उसीका पूजक हूँ, वही मेरा आराध्य देव है ।'

मोक्षप्राप्तिका उपाय

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः^१ ॥१॥

अर्थ-(सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर (मोक्षमार्गः) मोक्षके मात्र अथवा त्रिमोक्षको प्राप्तिके उपाय हैं ।

सम्यग्ज्ञान - मंशय^२ विपर्यय^३ और अनध्यवसायरहित^४ जीवादि पदार्थोंका जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है ।

सम्यक्चारित्र-मिथ्यादर्शन, कषाय तथा हिंसा आदि संसारके कारणोंसे विरक्त होना सम्यक्चारित्र कहलाता है । सम्यग्दर्शनका लक्षण आगेके सुत्रमें कहने हैं ॥२॥

१. आप्तेनोऽच्छब्रदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ (समन्तभद्र)

राग आदि दोष रहित सर्वज्ञ और हितोपदेशी ही आज हो सकता है ।

२. 'मोक्षमार्गः' इस पदमें व्याकरणके नियमोंके अनुपार बहुवचन होता चाहिये था पर आचार्यने एकब्रह्म हो रखा है इससे मन्त्रित होता है कि सम्यग्दर्शन आदि तीनोंका मिलना ही मोक्षका पार्ग है ।

३. अर्नीश्चत उत्त, जैसे यह मीष है या चांदी ।

४. उन्ट ज्ञन, जैसे रस्मीमें सांपका ज्ञान ।

५. अनिश्चित तथा विकल्परहित ज्ञान, जैसे चलते समय पावोंसे छूए हुए पत्थर वौरहमें कुछ है 'इस प्रकारका ज्ञान ।

सम्यगदर्शनका लक्षण- तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यगदर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ- (तत्त्वार्थश्रद्धानम्) तत्त्व-वस्तुके यथार्थ स्वरूप सहित अर्थ जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना (सम्यगदर्शनम्) सम्यगदर्शन (अन्ति) है।

भावार्थ- चौथे सूत्रमें कहे जानेवाले जीव आदि सात तत्त्वोंका जैसा स्वरूप बीतराग-सर्वज्ञ भगवानने कहा है उसका उसी प्रकार श्रद्धान करना सो सम्यगदर्शन है।

सम्यगदर्शनके उत्पत्तिकी अपेक्षा भेद-

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अथ- (तन्) वह सम्यगदर्शन (निसर्गात्) स्वभावसे (आ) अथवा (अधिगमात्) परके उपदेश आदि से (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है। इस प्रकार सम्यगदर्शनके उत्पत्तिकी अपेक्षा दो भेद हैं- १-निसर्गज, २-अधिगमज।

निसर्गज- जो परके उपदेशके बिना अपने आप (पूर्वभवके संस्कार) से उत्पन्न हो उसे निसर्गज सम्यगदर्शन कहते हैं।

अधिगमज- जो परके उपदेश आदिसे होता है उसे अधिगमज सम्यगदर्शन कहते हैं १ ॥ ३ ॥

तत्त्वोंके नाम-

जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् ।

अर्थ- (जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः) जीव, अजीव,

१. उक्त दोनों भेदोंमें मिथ्यात्म, सम्यग्मिथ्यात्म, सम्यकल्पप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्लोध मान माया लोभ इन सात कर्मप्रकृतियोंका उपशम, श्रय अथवा उद्योपशास्त्रका होना आवश्यक है।

आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष वे सात (तत्त्वम्) तत्त्व (सत्ति) हैं।

जीव- जिसमें ज्ञानदर्शनरूप चेतना पाई जावे उसे जीव कहते हैं।

अजीव- जिसमें चेतना न पाई जावे उसे अजीव कहते हैं।

आस्त्रव- बन्धके कारणको आस्त्रव कहते हैं।

बन्ध- आत्माके प्रदेशोंके माथ कर्मोंका द्रुध पानीकी तरह मिल जाना बन्ध है।

संवर- आस्त्रवके रूपनेको संवर कहते हैं।

निर्जरा- आत्माके प्रदेशोंसे पहले बन्धे हुए कर्मोंका एकदेश पृथक होना निर्जरा है।

मोक्ष- समस्त कर्मोंके बिलकुल क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं ॥ ४ ॥

सात तत्त्व तथा सम्यगदर्शन आदिके व्यवहारके कारण-

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः ॥५ ॥

अर्थ- (नामस्थापनाद्रव्यभावतः) नाम, स्थापना, द्रव्य और भावसे (तत् त्वासः) उन सात तत्वों तथा सम्यगदर्शन आदिका लोकव्यवहार (भवति) होता है। नाम आदि चार पदार्थ ही चार निक्षेप² कहलाते हैं।

नामनिक्षेप- गुण, जाति, द्रव्य और क्रियाकी अपेक्षाके बिना ही इच्छानुमार किसीका नाम रखनेको नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसीका नाम 'जिनदत्त' है। यद्यपि वह जिनदेवके हारा नहीं दिया गया है तथापि लोकव्यवहार चलानेके लिये उसका जिनदत्त नाम रख लिया गया है।

स्थापनानिक्षेप- धातु काष्ठ पाषाण आदिकी प्रतिमा तथा अन्य पदार्थोंमें 'यह वह है' इस प्रकार किसीकी कल्पना करना स्थापनानिक्षेप

2. इही सात तत्त्वोंमें गुण और याप मिला रहनेमें ३ पदार्थ ही जाते हैं। यहो उनका आस्त्रव और बन्धमें अन्तर्भूत हो जानेसे अन्तर्गत कथन नहीं किया है।

3. प्रमाण और नयके अनुभव प्रबलित हुए नोकव्यवहारको निर्देश कहते हैं।

है। इसके दो भेद हैं- १-तदाकार स्थापना और २-अतदाकार स्थापना। जिस पदार्थका जैसा आकार है उसमें उसी आकारवालेकी कल्पना करना तदाकार स्थापना है - जैसे पार्श्वनाथकी प्रतिमामें पार्श्वनाथकी कल्पना करना। और भिन्न आकारवाले पदार्थोंमें किसी भिन्न आकारवालेकी कल्पना करना अतदाकार स्थापना है। जैसे शतरंजकी गोटीमें बादशाह, बर्जीर बगीरहकी कल्पना करना।^३

द्रव्यनिक्षेप- भूत भविष्यत् पर्यायकी मुख्यता लेकर वर्तमानमें कहना सी द्रव्यनिक्षेप है। जैसे पहले कभी पूजा करनेवाले पुरुषको वर्तमानमें पूजारी कहना और भविष्यत्में राजा होनेवाले राजपुत्रको राजा कहना।

भावनिक्षेप- केवल वर्तमान पर्यायकी मुख्यतासे अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप कहना भावनिक्षेप है। जैसे- काष्ठको काष्ठ अवस्थामें काष्ठ, आग होने पर आग और कोयला हो जानेपर कोयला।^४

सम्यग्दर्शन आदि तथा तत्त्वोंके जाननेके उपाय-

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन आदि रत्नब्रय और जीव आदि तत्त्वोंका (अधिगमः) ज्ञान (प्रमाणनयैः) प्रमाण और नयोंसे (भवति) होता है।

प्रमाण जो पदार्थके सर्वदेशको ग्रहण करे उसे प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं- १-प्रत्यक्षप्रमाण और २-परोक्षप्रमाण। आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा किसी बाह्य निमिनकी सहायतासे बिना ही पदार्थोंको स्पष्ट जाने उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं और इन्द्रिय तथा प्रकाश आदिकी सहायतासे पदार्थोंको एक-देश जाने उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

नय- जो पदार्थके एकदेशको विषय करे- जाने उसे नय कहते हैं।

३. नमनिक्षेप और स्थापनानिक्षेपमें अन्य भाग्ननक्षेत्र में पूज्य अपूज्यका व्यवहार नहीं होता, परन्तु स्थापनानिक्षेपमें पूज्य अपूज्यका व्यवहार होता है।

इसके दो भेद हैं - १- द्रव्यार्थिक, २- पर्यायार्थिक। जो मुख्यरूपसे द्रव्यको विषय करे उसे द्रव्यार्थिक और जो मुख्यरूपमें पर्यायको विषय करे उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं । ॥ ६ ॥

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधान तः

अर्थ निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक तत्व तथा सम्पदर्शन आदिका व्यवहार होता हैं ।

निर्देश- वस्तुके स्वरूपका कथन करना सो निर्देश है ।

स्वामित्व- वस्तुके अधिकारको स्वामित्व कहते हैं ।

साधन- वस्तुकी उत्पत्तिके कारणको साधन कहते हैं ।

अधिकरण- वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं ।

स्थिति- वस्तुके कालकी अवधिको स्थिति कहते हैं ।

विधान- वस्तुके भेदोंको विधान कहते हैं ॥ ७ ॥ २

१. इन अवान्ता भेदोंकी विविधामें ही मूलमें द्विवचनके स्थान पर बहुवचनका प्रयोग किया गया है ।

२. ऊपर कहे हुए छह अनुयायोंमें सम्पदर्शनका वर्णन इस प्रकार है ।

निर्देश- जीव आदि हल्दीका यथार्थ श्रद्धन झरना ।

स्वामित्व- संज्ञा, पञ्चन्द्रिय, पर्याप्तक भाव जीव ।

साधन साधनके दो भेद हैं । १. अन्तरङ्ग और २. वाह्य । दशानमोहके उपशम्य अथ अथवा क्षयोपशमको अन्तरंग साधन कहते हैं, यह सबके एकम्य होता है । वाह्य साधन कई प्रकारका होता है । जैसे नरक गतिमें तो सरे नरक तक ' जगति स्मरण ' ' धर्म श्रवण ' ' और ' दुखानुभव ' ये ही तथा चौथेमें सातवें तक ' जातिस्मरण ' ' और ' दुखानुभव ' से दो साधन हैं । तियाँ और मनुष्यगतिमें ' जातिस्मरण ' ' धर्म श्रवण ' ' और ' जिनविष्व ' दशान ' ये तीन साधन हैं । देवर्गतिमें बारहवें स्कंदके पहले ' जातिस्मरण ' ' धर्म श्रवण ', ' जिनकल्याणक दशान ' ' और ' देवाद्विदशान ' ये चार उपकं आगे शोलहवें स्वर्ग तक ' देवाद्विदशान ' को छोड़कर तीन तथा नवाँविष्वकोंमें ' जातिस्मरण ' ' और ' धर्म श्रवण ' ये दो साधन हैं । इनके आगे मन्त्रवर्द्धक जीव ही उत्पन्न होते हैं ।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्त्वैश्च ॥

अर्थ- (छ) और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्त्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी पदार्थका ज्ञान (भवति) होता है।

सत्- वस्तुके अस्तित्वको सत् कहते हैं।

संख्या- वस्तुके परिणामोंकी गिनतीको संख्या कहते हैं।

क्षेत्र- वस्तुके वर्तमान कालके निवासको क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन- वस्तुके तीनों काल संबंधी निवासको स्पर्शन कहते हैं।

काल- वस्तुके ठहरनेकी मर्यादाको काल कहते हैं।

अन्तर- वस्तुके विरहकालको अन्तर कहते हैं।

भाव- औपशमिक, क्षायिक आदि परिणामोंको भाव कहते हैं।

आत्मबहुत्त्व- आठ पदार्थकी अविद्या किसी वस्तुकी ही नाधिकता वर्णन करनेको अल्पबहुत्त्व कहते हैं।

अधिकरण- अधिकारणके दो भेद हैं । १. आध्यात्मिक और २. बाह्य मम्यादशंसनक। आध्यात्मिक अधिकरण आह्या है और बाह्य अधिकरण एक रजु चौड़ी और चौदह रजु अष्ट्वी त्रमन ढाई है।

विधान- मम्यादशंसनके तीन भेद हैं । १. औपशमिक, २. क्षायोपशमिक, और ३. क्षायिक।

स्थिति- तीनों प्रकारके सम्यगदशनोंको जम्बन्य स्थिति अंतगुहर्त है तथा औपशमिक सम्यक्लवकी उल्कृष्ट स्थिति भी अंतमुहूर्त है। क्षायोपशमिकको उल्कृष्ट स्थिति ६६ मागर और क्षायिकको मंसारने रहनेकी उल्कृष्ट स्थिति ३३ मागर तथा अंतमुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कोटिवर्ष पूर्वको है।

इसी दरह मम्यज्ञान मम्यकृज्ञारित्र तथा जीव आदि तत्त्वोंका भी वर्णन यथायांग्य रूपमे लगा लेना चाहिए।

**सम्यगज्ञानका वर्णन, ज्ञानके भेद और नाम-
मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥**

अर्थ- (मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच प्रकारके (ज्ञान) ज्ञान (सन्ति) हैं।

मतिज्ञान- जो पांच इन्द्रियों और मनकी सहायतासे पदार्थको जाने उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान- जो पांच इन्द्रियों और मनको सहायतासे मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थको विशेष रूपसे जानता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान- जो इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही रूपी पदार्थोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिये हुए स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान- जो किसीकी सहायताके बिना ही अन्य पुरुषके मनमें स्थित, रूपी पदार्थोंको स्पष्ट जाने उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं ॥ ९ ॥

केवलज्ञान- जो सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायोंको एकसाथ स्पष्ट जाने उसे केवलज्ञान कहते हैं ॥ ९ ॥

प्रमाणका लक्षण और भेद-

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ- तत् उपर कहा हुआ पांच प्रकारका ज्ञान ही (प्रमाणे) प्रमाण (अस्ति) है।

भावार्थ- सम्यगज्ञानको प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं- १-प्रत्यक्ष, २-परोक्ष ॥ १० ॥

परोक्ष प्रमाणके भेद-

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ- (आद्ये) आदिके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (परोक्षम्) परोक्ष प्रमाण (स्तः) हैं ॥ ११ ॥

प्राप्ति देवता विष्णु द्वारा दीप्ति देवता शंखराज

ज्ञान देवता गणेश द्वारा दीप्ति देवता शंखराज



प्रत्यक्ष प्रमाणके भेद-

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२ ॥

अर्थ- (अन्यत्) प्रोष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ॥ १२ ॥

मतिज्ञानके दूसरे नाम -

मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोधइत्य-

नर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

अर्थ- मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञानके ही नामान्तर हैं।

मति- मन और इन्द्रियोंसे वर्तमानकालके पदार्थोंका जानना भति है।

स्मृति- पहले जाने हुए पदार्थका वर्तमानमें स्मरण आनेको स्मृति कहते हैं।

संज्ञा- वर्तमानमें किसी पदार्थको देखकर 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्षके जोड़रूप ज्ञानको संज्ञा कहते हैं। इसीका दूसरा नाम 'प्रत्यभिज्ञान' है।

चिंता- 'जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि अवश्य होती है- जैसे रसोईघर' इस प्रकारके व्याप्ति ज्ञानको चिंता कहते हैं।

अभिनिबोध- भाधनसे साध्यका ज्ञान होनेको अभिनिबोध कहते हैं- 'जैसे उम पहाड़ में अग्नि है, क्योंकि उमपर धूम है' इसीका दूसरा नाम 'अनुमान' है।

1. ये सब ज्ञान पर्तिज्ञानावरण करनेके शर्योपशास्त्रमें होते हैं इम्याभिये निर्गत यामान्यकी अंगआम सबको १०के कहा है परन्तु इन नवमें स्वस्त्र भेद अथाग्रह अनुशय है।

मतिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण और स्वरूप- तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ- (तत्) वह मतिज्ञान (इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्) पांच इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है ॥ १४ ॥

मतिज्ञानके भेद-

अवग्रहेहावायधारणः ॥ १५ ॥

अर्थ मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

अवग्रह- दर्शनके बाद शुक्लरूप कृष्ण आदि रूपविशेषका ज्ञान होना अवग्रह है।

ईहा- अवग्रहके द्वारा जाने हुए पदार्थको विशेषरूपसे जाननेकी चैष्टा करना ईहा है। जैसे- वह शुक्लरूप बगुला है या पताका ईहा ज्ञानको 'यह चांदी है या सीप' इत्यादिकी तरह संशयरूप नहीं समझना चाहिए, क्योंकि संशयमें अनिश्चित अनेक कोटियोंका अवलंबन रहता है जो कि यहाँ नहीं है यहाँ बगुलाका और पताकाका कथन दो उदाहरणोंकी अपेक्षा है। उसका स्पष्ट भाव यह है- यदी यह बगुला है तो बगुला होना चाहिये। और यदि पताका है तो पताका होना चाहिये। ईहामें भवितव्यतारूप प्रत्यय ज्ञान होता है।

अवाय- विशेष चिह्न देखनेसे उसका निश्चय हो जाना सां अवाय है। जैसे- उस शुक्ल पदार्थमें पंखोंका फड़फड़ाना उड़ना आदि चिह्न देखनेसे बगुलाका निश्चय होना।

२. छन्दोंके ज्ञानसे यहने उपर्युक्त उपर्युक्त होता है किमीं वस्तुकी स्त्रा मात्रके देखनेको उपर्युक्त कहते हैं। इसका विषय बहुत सुधम होता है जो कि उदाहरणमें नहीं मण्डाया जा सकता।

धारणा - अवायसे निश्चय किये हुए पदार्थको कालान्तरमें नहीं भूलना धारणा है ॥ १५ ॥

अवग्रह आदिके विषयभूत पदार्थ-

बहुबहुविधक्षिप्रानि: सृतानुकृतधुवाणां- सेतराणां ॥१६ ॥

अर्थ- (सेतराणाम्-बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुकृतधुवाणाम्) अपने उल्टे भेदों सहित बहु, आदि अर्थात् बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि: सृत, अनुकृत धुव और इनसे उल्टे एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त तथा अधुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह इहादिस्तप ज्ञान होता है।

१. बहु १ - एकमाथ बहुत पदार्थोंका अवग्रहादि होना । जैसे- गेहूंकी राशि देखनेसे बहुतसे गेहूंओंका ज्ञान ।

२. बहुविध-बहुत प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादि होना । जैसे- गेहूं, चना, चांचल आदि कई पदार्थोंका ज्ञान ।

३. क्षिप्र-शीधतासे पदार्थका ज्ञान होना ।

४. अनि: मृत-एकदेशके ज्ञानसे सर्वदेशका ज्ञान होना-जैसे- बाहर निकली हुई सूँड देखकर जलमें डूबे हुए पूरे हाथीका ज्ञान होना ।

५. अनुकृत-वचनसे कहे बिना अभिप्रायसे ज्ञान लेना । जैसे-मुँहकी मूरततथा हाथ आदिके इशारेसे प्यासे मनुष्यका ज्ञान होना ।

६. ध्रुव-बहुत कालतक जैसाका तैसा ज्ञान होते रहना ।

७. एक-अल्प वा एक पदार्थका ज्ञान ।

८. एकविध-एक प्रकारको वस्तुओंका ज्ञान होना एकविध ज्ञान है जैसे-एक, सहश गेहूंओंका ज्ञान ।

९. अक्षिप्र-चिरग्रहण-किसी पदार्थको धीरधीरबहुत समयमें जानना ।

१. यद्यापि वह आदि बारह प्रकारके पदार्थ हैं तथापि मूर्तिधाकी हाश्यमें वहाँ उनका ज्ञानप्रक लक्षण निख्ता गया है ।

१०. निसृत-बाहर निकले हुए प्रकट पदार्थोंका ज्ञान होना ।
 ११. उक्त-शब्द सुननेके बाद ज्ञान होना ।
 १२. अधुव-जो क्षण क्षण हीन अधिक होता रहे उसे अधुव ज्ञान कहते हैं ॥ १६ ॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ- उपर कहे हुए वह आदि बाहर भेद पदार्थ-द्रव्यके हैं अर्थात् वह आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थके ही अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं ॥ १७ ॥

अवग्रह ज्ञानमें विशेषता-

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ- (व्यञ्जनस्य) प्रकट रूप शब्दादि पदार्थोंका (अवग्रहः) सिर्फ अवग्रह ज्ञान होता है । इहादिक तीन ज्ञान नहीं होते ।

भावार्थ- अवग्रहके दो भेद हैं - १-व्यञ्जनावग्रह और २-अर्थावग्रह ।

व्यञ्जनावग्रह- अव्यक्त प्रकट पदार्थके अवग्रहको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं ।

अर्थावग्रह- व्यक्त प्रकट पदार्थके अवग्रहको अर्थावग्रह कहते हैं ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थ- (चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्) नेत्र और मनसे व्यञ्जनावग्रह (न)

१. किमांका गत है को चक्षु आदि इन्द्रियों रूप, आदि गुणोंको ही जानती है इन्द्रियोंका मत्रिकार्य (मम्बन्ध) उन्हींके माथ होता है । उम मत्रका खण्डन करनेके लिये ही एंधकताने' प्रथम्य 'यह मृत लिखा है । इसमें मिल होता है कि इन्द्रियोंका मम्बन्ध पदार्थक ही माथ होता है, केवल गुणके माथ नहीं होता ।

नहीं होता है ॥ १९ ॥

श्रुतज्ञानका वर्णन, श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम और भेद- श्रुतं मतिपूर्वद्वयनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थ- (श्रुतम्) श्रुतज्ञान (मतिपूर्वम्^२) मतिज्ञानपूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान उसका पूर्व कारण है। और वह श्रुतज्ञान (द्वयनेकद्वादश भेदम्) दो, अनेक तथा बारह भेदवाला है।

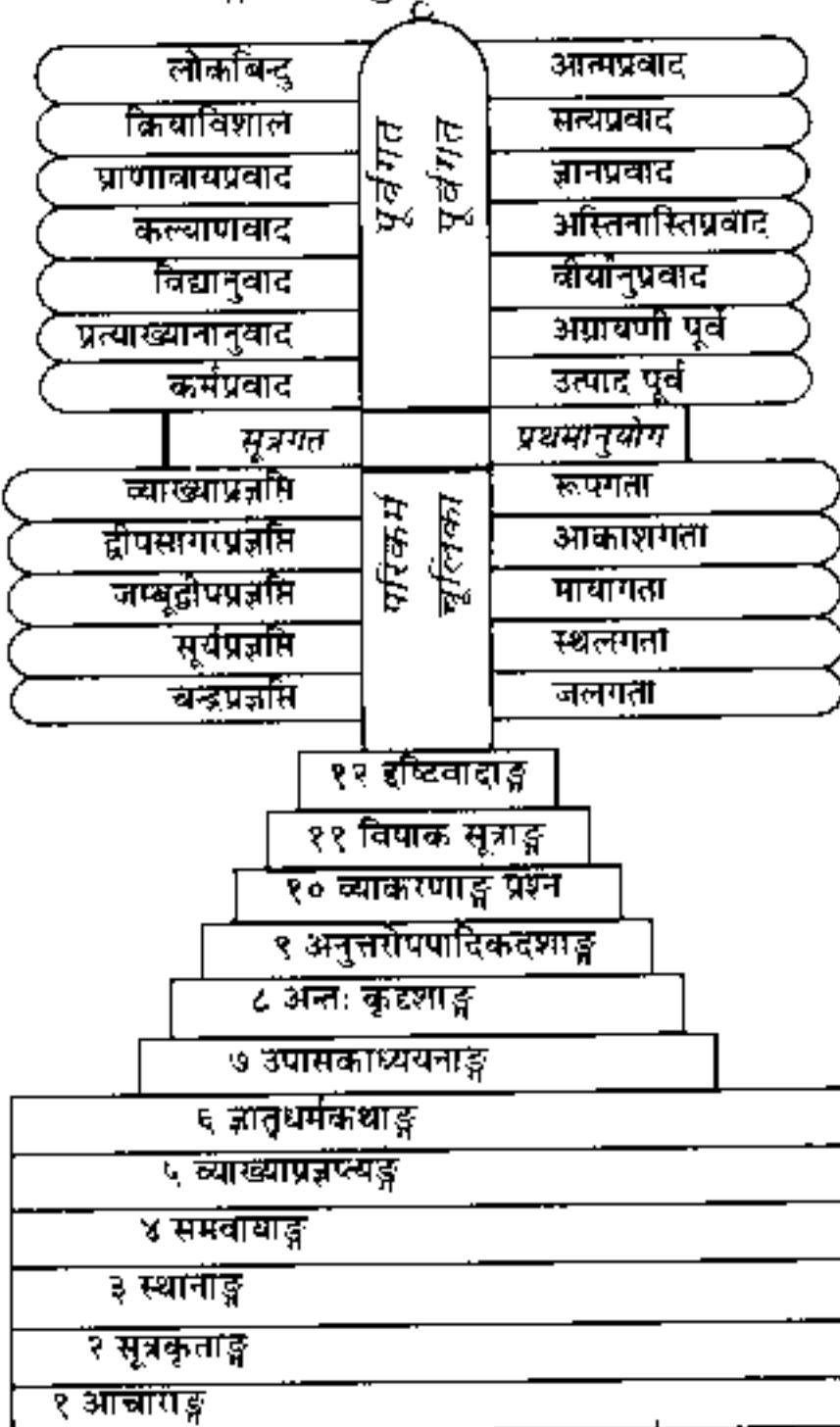
भावार्थ- श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके दो भेद हैं १- अङ्ग बाह्य और अङ्ग प्रविष्ट। उनमें से अङ्ग बाह्यके अनेक भेद हैं और अङ्ग प्रविष्टके १-आचारांग, २-सूत्रकृताङ्ग, ३-स्थानाङ्ग, ४-समवायाङ्ग, ५-व्याख्याप्रज्ञपि अङ्ग, ६-ज्ञानधर्मकथाङ्ग, ७-उपासकाध्ययनाङ्ग, ८-अंतकृदशाङ्ग, ९-अनुज्ञरोपपादिकदशाङ्ग, १०-प्रश्नव्याकरणाङ्ग, ११ विषाक्षसृताङ्ग, और १२ दृष्टिप्रवादाङ्ग, ये बारह भेद हैं। इनमें से दृष्टिप्रवाद नामक बारहवें अंगके ५ भेद हैं १-परिकर्म, २-सूत्र, ३-प्रथमानुयोग, ४-पूर्वगत और ५-चूलिका। परिकर्म ५ भेद हैं। १-व्याख्याप्रज्ञपि, २-द्वीपसागरप्रज्ञपि, ३-जम्बुद्वीपप्रज्ञपि, ४-सूर्यप्रज्ञपि, और ५-चंद्रप्रज्ञपि। चूलिकाके ५ भेद हैं- १-जलगता, २-स्थलगता, ३-मायागता, ४-आकाशगता और ५-रूपगता। सूत्रगत और प्रथमानुयोगके एक २ ही भेद हैं। पूर्वगतके १४ भेद हैं- १-उत्पाद, २-अग्रायणी, ३-वीर्यानुवाद, ४-अस्तिनास्तिप्रवाद, ५-ज्ञानप्रवाद, ६-सत्यप्रवाद, ७-आत्मप्रवाद, ८-कर्मप्रवाद, ९-प्रत्याख्यान, १०-विद्यानुवाद, ११-कल्याणानुवाद, १२-प्राणावायप्रवाद, १३-क्रियाविशाल और १४-लोकविन्दु। इन यन्त्रके पदोंका प्रमाण तथा विषय बगैर हराजवार्तिक आदि उच्च ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

१. वह आदि १२ पदार्थोंको अवग्रह आदि ४ प्रकारके ज्ञान, पांच इन्द्रियों और मन इन छहकी सहायतामें होते हैं, इसलिये $12 \times 4 = 48 \times 6 = 288$ भेद हैं। इनमें ल्यज्ञानक्षणके $12 \times 4 = 48$ भेद जोड़नेसे कुल २८८, ४८ = ३३६ मतिज्ञानके प्रभेद होते हैं।

२. श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है। यहाँ पूर्वका अर्थ कारण भी होता है, इसलिये 'मतिपूर्वक' इस पदका अर्थ 'मतिज्ञान है कारण जिसका' यह भी हो सकता है। 'यति: पूर्वमस्य मतिपूर्व-मतिकारणं इत्यर्थः।'

मतिज्ञान के ऐड थेट।

अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञानका विस्तार



अवधिज्ञानका वर्णन-

भवप्रत्ययोऽवधिदेवनारकाणाम् ॥२१ ॥

अर्थ- (भवप्रत्ययः) भवप्रत्यय नामका (अवधिः) अवधिज्ञान (देवनारकाणाम्) देव और नारकियोंके होता है ।^१

भावार्थ- अवधिज्ञानके दो भेद हैं-भवप्रत्यय और २ गुणप्रत्यय (क्षयोपशमिक)

भवप्रत्यय-देव और नरक भव (पर्याय) के कारण जो उत्पन्न हो उसे भवप्रत्यय कहते हैं ।

गुणप्रत्यय- जो किसी पर्याय-विशेषकी अपेक्षा न रखकर अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होवे उसे गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं ।

नोट-यहां इतना स्मरण रखना चाहिये कि भवप्रत्यय अवधिज्ञानमें भी अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम रहता है । पर वह क्षयोपशम देव और नरक पर्यायमें नियमसे प्रकट हो जाता है ।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञानके भेद और स्वामी-

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२ ॥

अर्थ- (क्षयोपशमनिमित्तः) क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान (षड्विकल्पः) अनुगामी, अननुगामी वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित, इस प्रकार छह भेदवाला है और वह (शेषाणाम्) मनुष्यतथा तिर्यकोंके (भवति) होता है ।

अनुगामी- जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी तरह जीवके साथ-साथ जावे उसे अनुगामी कहते हैं । इसके तीन भेद हैं-१-क्षेत्रानुगामी,

१. तिर्यकोंके भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है ।

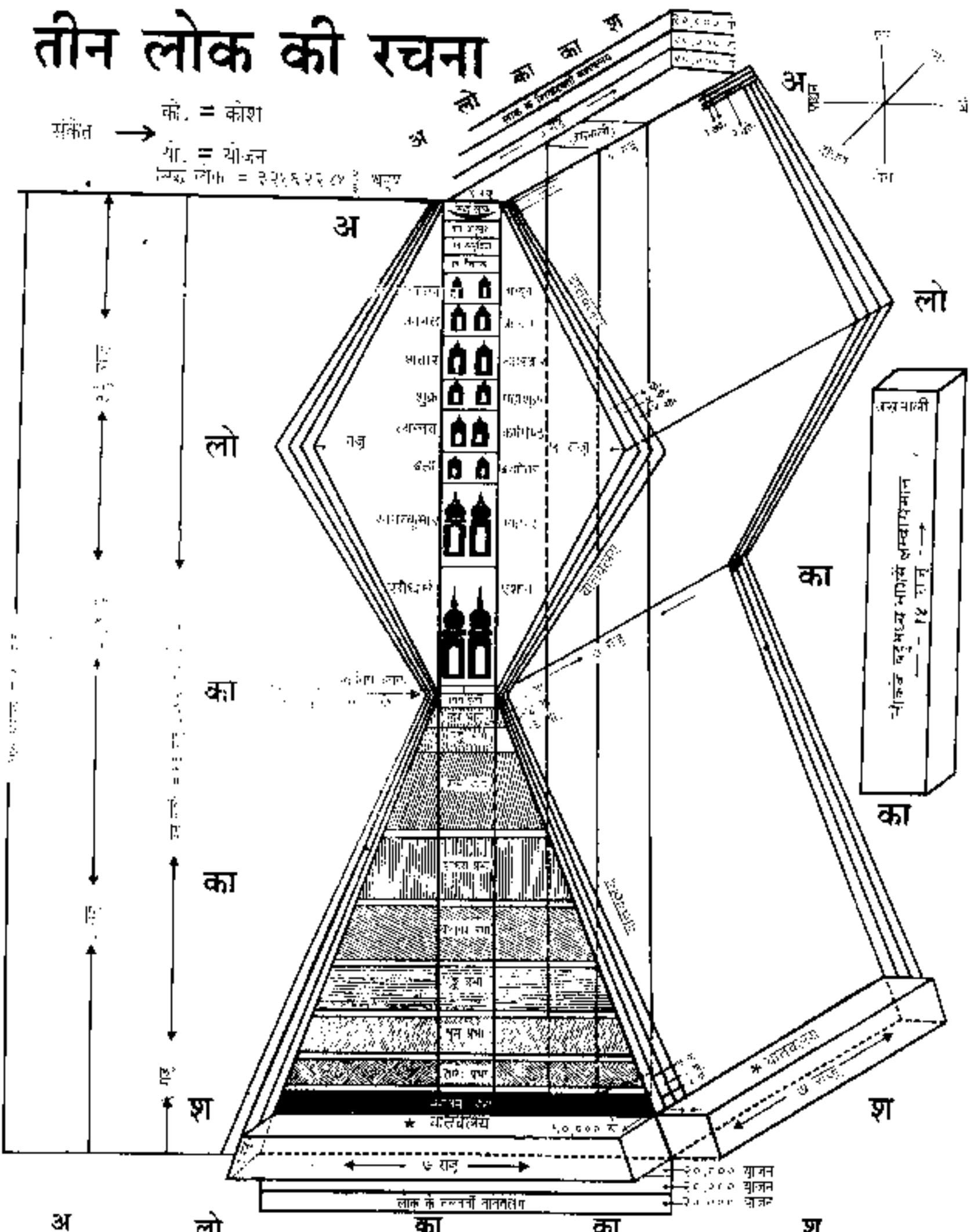
२. आत्मादृष्टि देव नारकियोंके अर्थात् और मिश्यादृष्टि देव नारकियोंके कुअवधि होता है ।

तीन लोक की रचना

संकेत → को. = कोश

यो. = योजन

वर्षा लोक = ३२०,६२५ वर्षा वर्षा



* लोक के नीचे वाले एक राजू प्रमण कलकल नामक स्थावर लोक को चाहे ओर से भेर कर अवैस्थित ६०,००० योजन मोटा बातबलय।

दिग्घवर जैन पुस्तकालय, सूरत

फोन :- (0261) 427621

पोक्ष शास्त्र (तत्त्वार्थ सृज)

२-भवानुगामी, और ३-उभयानुगामी ।

अननुगामी- जो अवधिज्ञान साथ नहीं जावे उसे अननुगामी कहते हैं । इसके तीन भेद हैं-१-क्षेत्राननुगामी, २-भवाननुगामी और ३-उभयाननुगामी ।

वर्द्धमान- जो शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी कलाओंकी तरह बढ़ता है उसे वर्द्धमान कहते हैं ।

हीयमान- जो कृष्णपक्षके चन्द्रमाकी कलाओंकी तरह घटता है उसे हीयमान कहते हैं ।

अवस्थित- जो अवधिज्ञान एक रहे न घटे न बढ़े उसे अवस्थित कहते हैं । जैसे सूर्य अथवा तिज आदि के चिह्न ।

अनवस्थित- जो हवासे प्रेरित जलकी तरङ्गकी तरह घटता बढ़ता रहे-एकसा न रहे उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं ॥ २२ ॥

दूसरे ग्रन्थोंमें अवधिज्ञानके नीचे लिखे हुए तीन भेद भी बतलाये । १-देशावधि, २-परमावधि, ३-सर्वावधि । इनमें देशावधि चारों तेयोंमें हो सकता है परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरण शरीरी गुनियोंको ही होता है । इनका स्वरूप और विषय अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ।

मनःपर्यय ज्ञानके भेद-

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ- (मनःपर्ययः) मनः पर्ययज्ञान (ऋजुविपुलमती) ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारका है ।

ऋजुमति- जो मन, वचन, कायकी सरलतासे चितिन दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थको जाने, उसे ऋजुमती मनः पर्ययज्ञान कहते हैं ।

विपुलमति- जो सरलतधा कुटिलरूपसे चितिन परके मनमें स्थित रूपी पदार्थको जाने उसे विपुलमति मनः पर्ययज्ञान कहते हैं ।

ऋजुमति और विपुलमतीमें अंतर- विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थ- (विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम्) परिणामोंकी शुद्धता और अप्रतिपात-केवलज्ञान होनेके पहले नहीं छूटना, इन दो बातोंसे (तद्विशेषः)- ऋजुमती और विपुलमतीमें विशेषता है।

भावार्थ- ऋजुमतीकी अपेक्षा विपुलमतीमें आत्माके भावोंकी विशुद्धता अधिक होती है। तथा ऋजुमती हीकर छूट भी जाता है पर विपुलमती केवलज्ञानके पहले नहीं छूटता ऋजुमती उन मुनियोंके भी हो जाता है जो उधरके गुणस्थानोंसे गिरकर नीचे आ जाते हैं पर विपुलमती जिन्हें होता है उन मुनियोंका नीचेके गुणस्थानोंमें पतन नहीं होता, दोनों भेदोंमें मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा ही ही नाधिकता रहती है मनःपर्यय ज्ञान मुनियोंके ही होता है ॥ २४ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता- विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

अर्थ- (अवधिमनः पर्यययोः) अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें (विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः) विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामि^१ और विषयको अपेक्षा (विशेषः भवति) विशेषता होती है।

भावार्थ- विशुद्धि आदिकी न्यूनाधिकतासे अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें भेद होता है ॥ २५ ॥

१. मनःपर्ययज्ञान उत्तरा ऋद्धिभारी मुनिनांको ही होता है, पर अवधिज्ञान चारों गतियोंके जोबोंको ही यक्षता है।

अवधिज्ञानके भेद

(क)

अवधिज्ञान

भवप्रत्यय

गुणप्रत्यय

१ अनुगामी, २ अननुगामी, ३ वर्धमान, ४ हीयमान, ५ अवस्थित, ६ अनवस्थित

क्षेत्रानुगामी भवानुगामी, उभयानुगामी

क्षेत्राननुगामी भवाननुगामी उभयाननुगामी

(ख)

अवधिज्ञान

देशावधि

परमावधि

सर्वावधि

मति और श्रुतज्ञानका विषय-

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

अर्थ- (मतिश्रुतयोः) मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका (निबन्धः) विषय सम्बन्ध (असर्वपर्यायेषु) सब पर्यायोंसे रहित (द्रव्येषु) जीव पुद्गल आदि सब द्रव्योंमें (आस्ति) है।

भावार्थ- इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न हुए मतिश्रुतज्ञान, रूपी अरूपी सभी द्रव्योंको जानते हैं पर उनकी सभी पर्यायोंको नहीं जान पाते। इसलिए उनका विषय सम्बन्ध द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंके साथ होता है ॥ २६ ॥

अवधिज्ञानका विषय- रूपिष्ववधे: ॥ २७ ॥

अर्थ- (अवधे:) अवधिज्ञानका विषय-सम्बन्ध (रूपिषु): रूपी द्रव्योंमें है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थोंको जानता है ॥ २७ ॥

मनःपर्ययज्ञानका विषय-

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थ- (तदनन्तभागे) सर्वावधि^१ ज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके अनन्तवें भागमें (मनःपर्ययस्य) मनःपर्ययज्ञानका विषयसम्बन्ध है ।

भावार्थ- सर्वावधि जिस रूपी द्रव्यको जानता है उससे बहुत सृक्षम रूपी द्रव्यको मनःपर्ययज्ञान जानता है ॥ २८ ॥

मनःपर्ययज्ञानके भेद-

मनःपर्यय ज्ञान

१ क्रमुमति

२ विपुलमति

केवलज्ञानका विषय-

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थ- (केवलस्य) केवलज्ञानविषय-सम्बन्ध (सर्वद्रव्यपर्यायेषु) सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंमें हैं । अर्थात् केवलज्ञान एकसाथ सब पदार्थोंको जानता है ॥ २९ ॥

१. जिसमें स्पृण रम गंध स्पृण शब्द पाया जावं ऐसे पुदगलद्रव्य हथा पुदगलद्रव्यमें संबन्ध रखनेवाले मंसारी जीव भी रूपी कहलाते हैं ।

२. अवधिज्ञानका सबसे ऊचा भेद ।

एक जीवके एकसाथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?-

एकादीनि भान्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्थ्यः ॥ ३० ॥

अर्थ- (एकस्मिन्) एक जीवमें (युगपद्) एकसाथ (एकादीनि) एकको आदि लेकर (आचतुर्थ्यः) चार ज्ञानतक (भान्यानि) विभक्त करनेके योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं ।

भावार्थ- यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है । दो हों तो मति-श्रुत होते हैं । तीन हों तो मति श्रुत अवधि अथवा मति श्रुत और मनःपर्यय होते हैं । यदि चार हों तो मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ज्ञान होते हैं । एकसाथ पाँचों ज्ञान किसी भी जीवके नहीं होते । प्रारम्भके चार ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं और अन्तका केवलज्ञान क्षयसे होता है ॥ ३० ॥

**मति श्रुत और अवधिज्ञानमें मिथ्यापन-
मति श्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥**

अर्थ- (मतिश्रुतावधयः ।) मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान (विपर्ययः च) विपर्यय भी होते हैं । उपरकहे हुए पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं परन्तु मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं । इन्हें क्रमसे कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान (विभद्वावधि) कहते हैं ।

नोट- इन तीन ज्ञानोंमें मिथ्यापन मिथ्यादर्शनके संसर्गसे होता है । जैसे पीठे दूधमें कडुबापन कडुबी तूष्णीइके संसर्गसे होता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न- जिस प्रकार पदार्थोंको सम्यग्हास्ति जानता है उसी प्रकार मिथ्याहास्ति भी जानता है, फिर सम्यग्हास्तिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्याहास्तिका ज्ञान मिथ्याज्ञान क्यों कहलाता है ?

१. ५. नन्यक और ३ मिथ्या इस प्रकार स्व पिलाकर ज्ञानोपयोगके स्वेच्छ होते हैं ।

उत्तर-

सदसतोरविशेषाद्युच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ- (यदुच्छोपलब्धे:) अपनी इच्छानुसार जैसा तैसा ज्ञाननेके कारण (सदसतोः) सत् और असत् पदार्थोंमें (अविशेषात्) विशेष ज्ञान न होनेसे (उन्मत्तवत्) पागल पुरुषके ज्ञानकी तरह मिथ्याहृष्टिका ज्ञान मिथ्यज्ञान ही होता है।

भावार्थ- जैसे पागल पुरुष जब स्त्रीको स्त्री और माताको माता समझ रहा है तब भी उसका ज्ञान मिथ्यज्ञान कहलाता है, क्योंकि उसके माता और स्त्रीके रीतार्थों कोई विश्वर अन्तर नहीं है, वैसे ही मिथ्याहृष्टि जब पदार्थोंको ठीक ज्ञान रहा है तब भी सत् असत् का निर्णय नहीं होनेसे उनका ज्ञान मिथ्या ज्ञान ही कहलाता है ॥ ३२ ॥

नयोंके भेद-

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जु सूत्रशब्दसमभिरुद्धैवं

भूतानयाः ॥ ३३ ॥

अर्थ- नैगम, संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत ये सात नय हैं।

नैगम नय- जो नय अनिष्टन्न अर्थके संकल्प मात्रको ग्रहण करता है वह नैगम नय है। जैसे लकड़ी पानी आदि सामग्री इकट्ठी करनेवाले पुरुषसे कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं, तब वह उत्तर देता है कि रोटी बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा है तथापि नैगम नय उसके इस उत्तरको सत्यार्थ मानता है।

१. लम्नुके अनेक धर्मोंमें किमी एककी मुख्यता कर अन्य धर्मोंके विरोध में करते हुए पदार्थका जननना नय है।

संग्रह नय- जो नय अपनी जातिका विरोध न करता हुआ एक पनेसे समस्त पदार्थोंको ग्रहण करता है उसे संग्रह नय कहते हैं। जैसे सत, द्रव्य, घट इत्यादि।

व्यवहार नय जो नय संग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोंको विधिपूर्वक भेद करता है वह व्यवहार नय है। जैसे सत् दो प्रकारका है- इत्य और गुण। इत्यके ह भेद हैं-जीव, प्रदग्धि, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। गुणके दो भेद हैं-सामान्य और विशेष। इस तरह यह नय वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ तक भेद हो सकते हैं।

ऋजुसूत्र नव्य- जो सिर्फ वर्तमान कालके पदार्थोंको ग्रहण करे उसे ऋजुसूत्र नव्य कहते हैं।

शब्द नय- जो नय लिङ्ग संख्या कारक आदिके व्यभिचारको दूर करता है वह शब्द नय है। यह नय लिङ्गादिके भेदसे पदार्थको भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे दार (पु०) भार्या (स्त्री०) कलत्र (न०) ये तीनों शब्द भिन्न लिङ्गवाले होकर भी एक ही स्त्री पदार्थके बाबक है पर यह नय स्त्री पदार्थको लिङ्गके भेदसे तीन रूप मानता है।

समभिरुड नय- जो नय नाना अर्थोंका उत्तर है न कर एक अर्थको लूढ़िसे ग्रहण करता है उसे समभिरुड नय कहते हैं। जैसे बचन आदि अनेक । अर्थोंका वाचक गी शब्द किसी प्रकरणमें गाय अर्थका वाचक होता है। यह नय पर्यायके भेदसे अर्थको भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे- इन्ह शब्द परन्दर ये तीनो शब्द इन्द्रके नाम हैं पर यह नय इन तीनोंके भिन्न

१. रामः पुमान् वृषभः स्वर्गेण खण्डवज्ञिपांशुपु ।

स्त्री गाव्रं पृष्ठिदिवनेत्रद्वाव्याणमर्मलक्ष्मि स्त्रियः ॥

इति स्वर्णोच्चनः ।

गी; शब्दके १५ अश्व हैं - १. बल, २. म्भर, ३. खण्ड, ४. चतुर, ५. छन्दना, ६. गाय, ७. भूषि, ८. दिशा, ९. नेत्र, १०. वाणी (स्त्री) और ११. जन (स्त्री वहुवचनात्)।

भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

एवंभूत- जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है उसी क्रियारूप परिणमते हुए पदार्थको जो मन ग्रहण करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं। जैसे पूजारीको पूजा करते समय ही पूजारी कहना।^२

इति श्री उमास्वामिविरचितं माक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः।

प्रश्नावली

- (१) तत्त्व कमसे कम कितने हो सकते हैं ?
- (२) सिंक सम्यक्चारित्रसे पौष्ट्र प्राप्त हो सकता है या नहीं ?
- (३) निष्ठेय किसे कहते हैं ?
- (४) नय और प्रमाणमें कितना अन्तर है ?
- (५) श्रुतज्ञान पहले होता है या पतिज्ञान ?
- (६) क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञानके भेद गिनाओ।
- (७) मनःपर्यय और अवधिज्ञानमें क्या अन्तर है ?
- (८) क्या अवधिज्ञानके बिना भी मनःपर्यय ज्ञान हो सकता है ?
- (९) संग्रह नयका क्या स्वरूप है ? उदाहरण सहित बताओ।
- (१०) नय और निष्ठेयमें क्या अन्तर है ?
- (११) क्या नय भी मिथ्या होते हैं ? यदि होते हैं तो क्या ?

२ नय और निष्ठेयमें अन्तर- नय ज्ञानके भेद है और निष्ठेय उस ज्ञानके अनुसार किये गये लघवहारका कहते हैं। इनमें ज्ञान और ज्ञेय, विषयी अथवा विषयका भेद है।

द्वितीय अध्याय

जीवके असाधारण भाव-

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थ- (जीवस्य) जीवके (औपशमिकक्षायिकौं) औपशमिक और क्षायिक (भावौ) भाव (च मिश्रः) और मिश्र तथा (औदयिकपारिणामिकौच) औदयिक और पारिणामिक ये पांचोंही भाव (स्वतत्त्वम्) निजके भाव हैं अर्थात् जीवको छोड़कर अन्य किसीसे नहीं पाये जाते ।

उपशम तथा औपशमिक भाव- द्रव्यक्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मकी शक्तिके प्रकट न होनेको उपशम कहते हैं और कर्मोंके उपशमसे आत्माका जो भाव होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं । जैसे निर्पलीके संयोगसे पानीकी कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है ।

क्षय तथा क्षायिक भाव- कर्मोंके समूल विनाश होनेको क्षय कहते हैं । जैसे पूर्व उदाहरणमें जो कीचड़ नीचे बैठ गई थी उस कीचड़का बिलकुल अलग हो जाना । कर्मोंके क्षयसे जो भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं ।

क्षयोपशम तथा क्षयोपशमिक भाव (मिश्र) का लक्षण- वर्तमानकालमें उदय आनेवाले सर्वधाति¹-स्पृद्धकोंका उदयाभावी² क्षय तथा उन्हींके आगामीकालमें उदय आनेवाले निषेकोंका³ सदवस्थारूप उपशम और देशधातिस्पृद्धकोंका⁴ उदय होनेको क्षयोपशम कहते हैं । जैसे पानीकी स्वच्छताको बिलकुल नष्ट करनेवाले कीचड़के परपाण्योंके

1. जो जीवके सम्बद्धत्व वा ज्ञानादि अनुजोवी गुणोंको पूरो तौरसे खाते उसे सर्वधाति कहते हैं । 2. मिश्र फल दिये हुए उदयाभाव कर्मोंका डिर जाना । 3. एक समयमें जितने कमपरमाणु उदयमें आवें उन सबके गम्भेहको निपंक कहते हैं । 4. जो जीवके ज्ञानादि गुणोंको एकदेश धाते ।

मिले रहनेपर पानीमें स्वच्छास्वच्छ अवस्था होती है। कर्मोंके क्षयोपशमसे जो भाव होता है उसे क्षाणोपणापित्तु भाव कहते हैं।

उदय तथा औदयिक भाव- स्थितिको पूरी करके कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं और कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव- जो भाव कर्मोंके उपशम क्षय क्षयोपशम तथा उदयकी अपेक्षा न रखता हुआ आत्माका स्वभाव मात्र हो उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

भावोंके भेद-

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदायथाक्रमम् ॥२॥

अर्थ- उपर कहे हुए पांचों भाव (यथाक्रमम्) क्रमसे (द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदः) दो, चब, अठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं ॥२॥

औपशमिकभावके दो भेद-

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ- औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भावके भेद हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माथा, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियोंके

: जानवरण, दरानवरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंको उदय क्षय और भयोपशम के दोन, योहनीय कर्मोंको उदय उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये चारों तथा ये कर्मोंकी उदय और क्षय ये दो अवस्थाएं होती हैं।

उपशमसे^३ जो सम्यकत्व होता है उसे औपशमिक सम्यकत्व कहने हैं ।

औपशमिक चारित्र- अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमेहनीयकी २१ प्रकृतियोंके उपशमसे जो चारित्र होता है उसे औपशमिक चारित्र बताते हैं ॥ ३ ॥

क्षायिकभावके नौ भेद-

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४ ॥

अर्थ- केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य तथा 'च' कारसे क्षायिक सम्यकत्व और क्षायिकचारित्र ये नौ क्षायिकभावके भेद हैं ।

केवलज्ञान- जो ज्ञानावरणके क्षयसे हो । केवलदर्शन- दर्शनावरणके क्षयसे हो । क्षायिकदान आदि पांच भाव- अन्तराय कर्मसे ५ भेदोंके क्षयसे होते हैं ।

क्षायिक सम्यकत्व- जो ऊपर कही हुई सात प्रकृतियोंके क्षयसे हो ।

क्षायिकचारित्र- जो ऊपर कही हुई २१ प्रकृतियोंके क्षयसे हो ।

क्षयोपशमिकभावके अठारह भेद-

ज्ञानज्ञानदर्शनलब्ध्यश्चतुस्त्रित्रिपञ्च-

भेदाः सम्यकत्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ- (ज्ञानज्ञानदर्शनलब्ध्यश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः) मतिश्रुत अवधि मनःपर्य ये चार ज्ञान, कुमति कुश्रुत कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन,

३. अनादि पितॄयाद्दीप्ति और किसी किसी सांद मिथ्याद्विके प्रभन्नानुबन्धीकी १ और मिथ्यात्त्व २ इन पांच प्रकृतियोंके उपशमसे होता है । ३. इन नौ भेदोंका नौ लोक्यां पां कहते हैं ।

अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षयोपशमिक दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पांच लक्ष्यायां तथा (सम्बन्धसारित्रसंचापासंयमाकृ) क्षयोपशमिक सम्बन्ध शास्त्रोपशमिक लक्ष्यत्रि और उपभोग योग्य द्वे अत्यन्त भाव क्षयोपशमिक भाव हैं।

क्षायोपशमिक सम्बन्ध - अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व सम्बन्धित्यात्व इन सर्वधाति प्रकृतियोंके वर्तमानकालमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा उन्हींके आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदबस्थास्त्रप उपशम और देशधाति सम्बन्ध प्रकृतिका उदय होनेपर जो सम्बन्धित्यात्व प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिक सम्बन्ध कहते हैं। इसीका दूसरा नाम वेदक सम्बन्ध भी है।

क्षायोपशमिक चारित्र- अनन्नानुबन्धी आदि बारह कषायोंका उदयाभावी क्षय तथा उहींके निषेकोंकी सदवस्थारूप उपशम और संखलन तथा नोकषायका यथासम्भव उदय होनेपर जो चारित्र होता है उसे क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। इसीका दूसरा नाम सराग-संयम है।

संयमासंयम- अनंतानुबंधी आदि ८ प्रकृतियोंका उदयाभाषी क्षय और उन्हींके निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम तथा प्रत्याख्यान-वरणादि १७ प्रकृतियोंका यथासम्भव उदय होनेपर आत्माकी जो विरताविरत अवस्था होती है उसे संयमासंयम कहते हैं ॥५॥

आौद्यिकभाबके इककीस भेद-

अर्थ- नरक, तिर्यक, मनुष्य और देव ये चार गति, क्रोध, प्राण, माया और लोभ ये चार कषाय, स्वर्णवेद, पंचेद और नपंसकवेद ये तीन लिंग,

मिथ्यादर्शन, १ अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्मशुक्ल ये छह लेख्याएँ^१ इस तरह सब मिलाकर औदियिक भावके इकीम भेद हैं ॥ ६ ॥

परिणामिक भावके भेद-

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ- जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन परिणामिक भाव हैं।

नोट- सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दसे अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणोंका भी ग्रहण होता है।

इस तरह जीवके सब मिलाकर कुल $2 + २ + १८ + २१ + ३ = ५३$ व्रेपन भेद होते हैं ॥ ७ ॥ (देखें पैज ३० पर)

जीवका लक्षण-

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ- जीवका (लक्षणम्) लक्षण (उपयोगः) उपयोग (अस्ति)है।

उपयोग- आत्माके चैतन्य गुणमें सम्बन्ध रखनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं। उपयोग जीवका तदभूत लक्षण है।

उपयोगके भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ- (सः) वह उपयोग भूलमें (द्विविधः) ज्ञानोपयोग और

१. औदियिक भावमें जो अज्ञान भाव है वह अभावस्तुत होता है। और आशापशमिक अज्ञान भाव मिथ्यादर्शनके कारण दृष्टित होता है २. कथायके उदयमें मिनी हुड़ गांगोंको एवजिको लेख्या कहते हैं

१०४

四

दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है। फिर क्रममे (अष्टवत् भेदः) आठ और चार भेदसे सहित है, अर्थात् ज्ञानोपयोगके मति श्रुत अवधिमन-पर्यय और केवलज्ञान तथा कुमति कुश्रुत और कुअवधि ये आठ भेद हैं। एवं दर्शनोपयोगके चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं। इस प्रकार दोनों भेदोंके मिलानेसे उपयोगके बारह भेद हो जाते हैं ॥ ९ ॥

जीवके भेद-

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ- वे जीव(संसारिणः) संसारी(च) और(मुक्तः) मुक्त इस प्रकार दो भेदवाले हैं। कर्म सहित जीवोंको संसारी और कर्मरहित जीवोंको मुक्त कहते हैं ॥ १० ॥

संसारी जीवोंके भेद-

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ- संसारी जीव समनस्क-सैनी और अमनस्क-असैनीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

समनस्क- मनसहित जीव।

अमनस्क- मनरहित जीव ॥ ११ ॥ ^४

संसारी जीवोंके अन्य प्रकारसे भेद

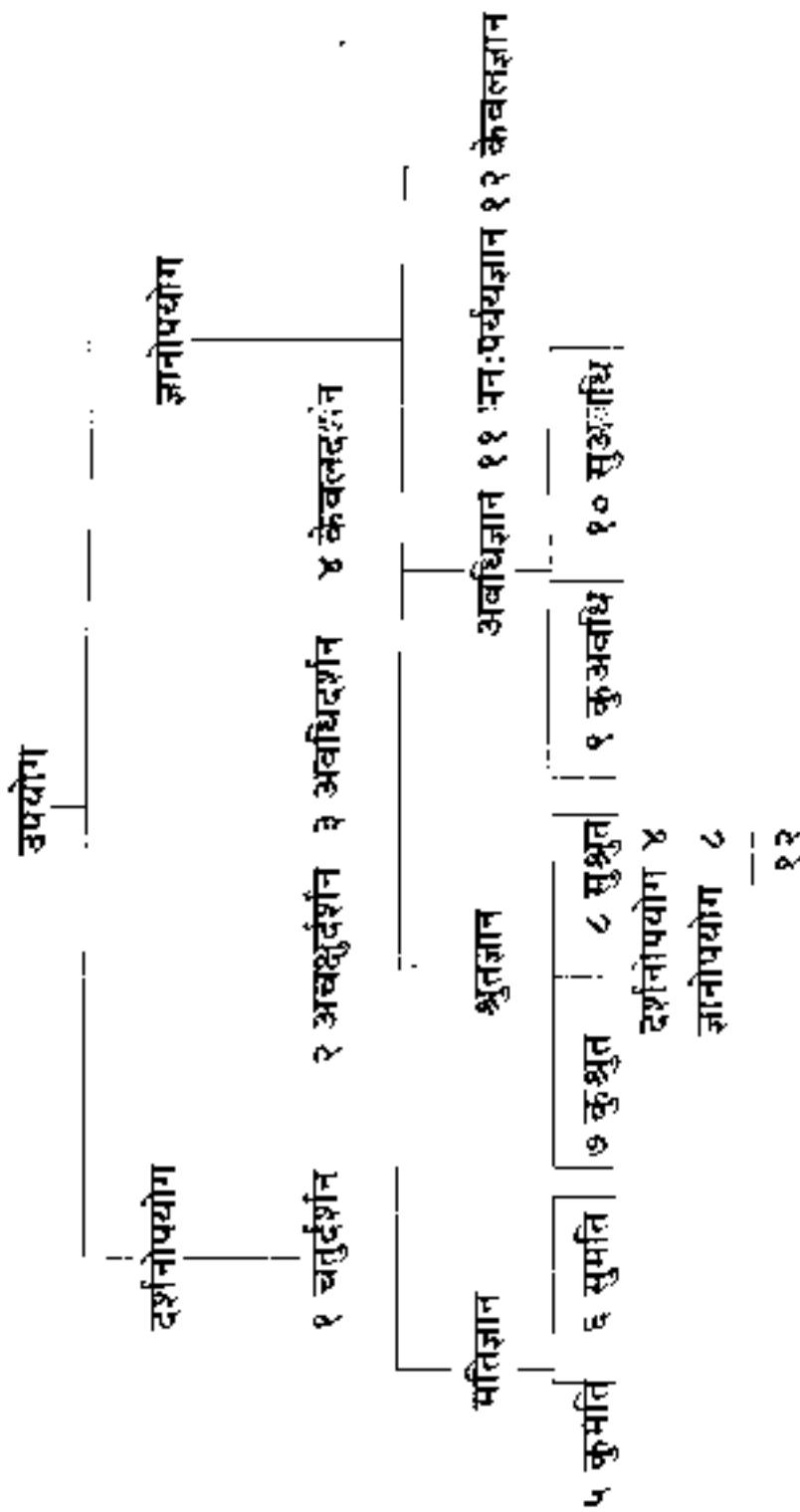
संसारिणस्त्रस्मस्थावराः ॥ १२ ॥

३. ज्ञानोपयोग पदार्थको विकल्प ग्रहित जानना है और दर्शनोपयोग विकल्पर्हाहत जानता है। ४. एकेन्द्रियमे लेकर चतुरिन्द्रिय तत्क जीव नियममें असैनी होते हैं। त्रियेच एन्ड्रियोंमें सैनी असैनी दोनों होते हैं। शेष तीन गतियोंके जीव नियममें सैनी ही होते हैं।

उपयोगके भेद

३५

भाषाविज्ञान विद्या



अर्थ- (संमारिणः) संसारी जीव (त्रस स्थावराः) त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं।

स्थावरोंके

पृथिव्यसे जो वायु बन स्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थ- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये चाँच प्रकारके स्थावर हैं; इनके ज्ञान स्पतय इन्द्रिय होती है।

स्थावर- स्थावर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई जीवकी अवस्था-विशेषको स्थावर कहते हैं ॥ १३ ॥

त्रस जीवोंके भेद-

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और पञ्चन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं।

त्रस- त्रस नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई जीवकी अवस्था-विशेषको त्रस कहते हैं ॥ १४ ॥

इन्द्रियोंकी गणना-

पञ्चन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ- सब इन्द्रियां पांच हैं।

इन्द्रिय- जिनसे जीवकी पहचान हो उन्हें इन्द्रियां कहते हैं ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंके मूल भेद-

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ- सब इन्द्रियां द्वय इन्द्रिय और भाव इन्द्रियके भेदसे दो दो प्रकारकी हैं ॥ १६ ॥

द्रव्येन्द्रियका स्वरूप-

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ- निर्वृति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृति- पुदगलविषाकी नामकर्मके उदयसे निर्वृत-रची गई नियत आकारवाली पुदगलकी च्छनाविशेषको निर्वृति कहते हैं। इसके २ भेद हैं- १-आध्यन्तर निर्वृति और २-बाह्य निर्वृति। उत्सेधांगुलके असंख्यों भाग प्रमाण शुद्ध आत्माके प्रदेशोंका चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकार होनेवाले परिणामनको आध्यन्तर निर्वृति कहा है, तथा इन्द्रिय व्यपदेशको प्राप्त हुए आत्माके उन प्रदेशोंमें नामकर्मके उदयसे होनेवाले चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकार परिणत पुदगल प्रचयको बाह्य निर्वृति कहते हैं।

उपकरण जो निर्वृतिका उपकार करे उसे उपकरण कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं- १ आध्यन्तर उपकरण और २ बाह्य उपकरण जैसे चक्षु इन्द्रियमें जो कृष्ण शुक्ल मण्डल हैं वह आध्यन्तर उपकरण है और पलकें तथा बिरुनी वर्गीकृत बाह्य उपकरण हैं ॥ १७ ॥

भाव इन्द्रियका स्वरूप-

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ- लब्ध्य और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्ध्य- ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्ध्य कहते हैं

उपयोग- जिसके निमित्तसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी निर्वृतिके प्रति व्यापार करता है उस निमित्तसे होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं ॥ १८ ॥

पञ्च इन्द्रियोंके नाम-

स्पर्शनरसनाद्याणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ- स्पर्शन (त्वचा) रसना (जीव) द्याण (नाक) चक्षुः (आंख) और श्रोत्र (क्षान) ये पांच इन्द्रियों हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रियोंके विषय-

स्पर्शरसगन्धवणेशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ- स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पांच क्रमसे उपर कही हुई पांच इन्द्रियोंके विषय हैं। अर्थात् उक्त इन्द्रियां इस विषयोंको जानती हैं ॥ २० ॥

मनका विषय-

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ- (अनिन्द्रियस्य) मनका विषय (श्रुतम्) श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ है। अथवा मनका प्रयोजन श्रुतज्ञान है ॥ २१ ॥

नोट सामान्य श्रुतज्ञान मनसहित और मन रहित दोनों प्रकारके जीवोंके होता है यहां शास्त्र ज्ञान रूप जो श्रुत है उसे मनका विषय कहा गया है।

इन्द्रियोंके स्वामी-

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ- (वनस्पत्यन्तानाम्) वनस्पतिकाय है अन्तमें जिनके ऐसे जीवोंके अर्थात् पृथकीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके (एकम्) एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है ॥ २२ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैक-

वृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ- लट आदि, चिकंटी आदि, भींग आदि तथा मनुष्य आदि के क्रमसे एक-एक इन्द्रिय बढ़ती हुई हैं। अर्थात् लट आदिके प्रारम्भको दो, चिकंटी आदिके तीन, भींग आदिके चार और मनुष्य आदिके पांचों इन्द्रियों होती हैं ॥ २३ ॥

समनस्ककी परिभाषा-

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ- (समनस्काः) मन सहित जीव (संज्ञिनः) संज्ञो कहलाते हैं ।

संज्ञा- हित अहितकी परीक्षा तथा गुणदोषका विचार वा स्मरणादिका एको संज्ञा कहलते हैं ॥ २५ ॥

प्रश्न- जब कि जीवोंकी हिताहितमें प्रबृन्धि मनकी सहायतासे ही होती है, तब वे विग्रहगतिमें मनके बिना भी नवीन शरीरकी प्राप्तिके लिये गमन करते हैं ?

उत्तर-

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थ- (विग्रहगतौ) विग्रहगतिमें (कर्मयोगः) कार्मण काययोग होता है । उसीकी सहायतासे जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन करता है ।

विग्रहगति-एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये गमन करना विग्रह गति^२ है ।

कर्मयोग- ज्ञानावरणादि कर्मोंके समूहको कार्मण कहते हैं उसके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन चलन होता है उसे कर्मयोग अथवा कार्मणयोग कहते हैं ॥ २५ ॥

गमन किस प्रकार होता है ?

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

1. गर्ज़-ओत पञ्चेभित्र ही होते हैं । 2. विद्वाहाश्च गति विग्रहगति; विग्रह - शरीरके नियं जो ननि हो वह विग्रहगति है । शरीर वाप्तं विग्रह; इत्यमरः ।

अर्थ- (गतिः) जीव और पुद्गलोंका गमन (अनुश्रूणि) श्रेणिके अनुसार ही होता है ।

श्रेणि- लोकके मध्यभागसे उपर, नीचेतथा तिर्यक् दिशामें क्रमसे सत्त्विकेश (रचना) को प्राप्त हुए आकाश-प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं ।

नोट- जो जीव मरकर दूसरे शरीरके लिये गमन करता है उसीका गमन विग्रह गतिमें श्रेणिके अनुसार होता है, अन्यका नहीं । इसी तरह जो पुद्गलका शुद्ध परमाणु एक समयमें चौदह राजु गमन करता है उसीका श्रेणिके अनुसार गमन होता है, सब पुद्गलोंका नहीं ।

मुक्त जीवोंकी गति-

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

अर्थ- (जीवस्य) मुक्त जीवकी गति (अविग्रहा) बक्तव्यात् रहित-सीधी होती है ।

भावार्थ- श्रेणिके अनुसार होनेवाली गतिके दो भेद हैं- १ विग्रहवती (जिसमें मुड़ना पड़े) और २ अविग्रहा (जिसमें मुड़ना न पड़े ।) इनमें से कर्मोंका क्षयकर सिद्धशिलाके प्रति गमन करनेवाले जीवोंके अविग्रहा गति होती है ।

संसारी जीवोंकी गति और समय-

विग्रहवती च संसारिणः प्राकृचतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थ- (संसारिणः) संसारी जीवकी गति (चतुर्भ्यः प्राकृ) चार समयसे पहले पहले (विग्रहवती च) विग्रहवती और अविग्रहवती दोनों प्रकारकी होती है ।

1. आगे के मूल्यमें संसारी जीवका ग्रहण है इसलिये यहां पर 'जीवस्य' इस सामान्य पदार्थ की मुक्त जीवका प्रश्न होता है ।

भावार्थ- संसारी जीवकी गति मोड़ा रहित भी होती है। और मोड़ा सहित भी। जो मोड़ा रहित होती है उसमें एक समय लगता है। जिसमें एक मोड़ा लेना पड़ता है उसमें दो समय, जिसमें दो मोड़ा लेना पड़ते हैं उसमें एक समय लगता है। जिसमें एक मोड़ा लेना पड़ता है उसमें तीन समय और जिसमें तीन मोड़ा लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं। पर यह जीव चौथे समयमें कहीं न कहीं भवीन शरीर नियमसे धारण कर लेता है, इसलिये विग्रह गतिका समय चार समयके पहले पहले तक कहा गया है।

अविग्रहागतिका समय-

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ- (अविग्रहा) मोड़ा रहित गति (एकसमया) एक समय मात्र होती है अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है ॥ २९ ॥

विग्रहगतिमें आहारक अनाहारककी व्यवस्था-

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ- विग्रहगतिमें जीव एक दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है।

आहार- औदारिक, वैकियिक और आहारक शरीर तथा द पर्याप्तियोंके योग्य पृदगल परमाणुओंके ग्रहणको आहार कहते हैं।

भावार्थ- जब तक जीव उपर कहे हुए आहारको ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहागतिमें आहारक ही होता है। किन्तु एक दो और तीन मोड़बाली गतियोंमें क्रमसे एक दो और तीन समय तक अनाहारक रहता है। चौथे समयमें नियमसे आहारक हो जाता है ॥ ३० ॥

1. १ ऋति गतियोंके भेद है १ ऋजुग्रहि (इमुर्ग्रहि) २ पाणिग्रहि गति ३ लाङ्गूलिङ्गा गति ४ गोर्ग्रहि गति ५ ऋजुगतिबाली जीव अनाहारक नहीं होता

जन्मके भेद-

सम्पूर्छनगभोपयादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ- (जन्म) जन्म (सम्पूर्छनगभोपयादा) सम्पूर्छन गर्भ और उपयादके भेदसे तीन प्रकारका होता है।

सम्पूर्छन जन्म- अपने शरीरके योग्य पुरुगल परमाणुओंके द्वारा माता पिताके रज और वीर्यके बिना ही अवयवोंकी रचनाहोनेको सम्पूर्छन जन्म कहते हैं।

गर्भजन्म- स्त्रीके उदरमें रज और वीर्यके मिलनेसे जो जन्म होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपयाद जन्म- माता-पिताके रज और वीर्यके बिना देव नारकियोंके निश्चित स्थान-विशेषपर उत्पन्न होनेको उपयाद जन्म कहते हैं।

योनियोंके भेद-

सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा

मिश्राशैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

अर्थ- (सचित्तशीतसंवृत्ताः) सचित्, शीत, संवृत तीत (सेतराः) इनसे उल्टी तीन अचित्, उष्ण, विवृत (च) और (एकशः) एक २ कर (मिश्राः) क्रमसे मिली हुई तीन सचिताचित्, शोतोष्ण, संवृत विवृत ये तो (तद्योनयः) सम्पूर्छन आदि जन्मोंकी योनियाँ हैं।

सचित्योनि- जीव सहित योनिको सचित्योनि कहते हैं।

संवृत्योनि- जो किसीके देखनेमें न आवे ऐसे जीवके उत्पत्ति स्थानको संवृत्योनि कहते हैं।

विवृत्योनि- जो सबके देखनेमें आवे उस उत्पत्ति स्थानको विवृत्योनि कहते हैं। शेष योनियोंका अर्थ स्पष्ट है ॥ ३२ ॥

2. नवीन शरीर धारणा करना।

नाट- कौन योनि किस जांवके होती है, इस विषयको आगेके चित्रपर देखिये।

योनि भेद और उनके स्वामी

| योनि नाम | स्वामी |
|-----------------|------------------------|
| १. सचिन्त | साधारण शरीर |
| २. अचिन्त | देव नारकी |
| ३. सचिन्ताचिन्त | गर्भ ज |
| ४. शीत | तेजस्कायिक छोड़कर |
| ५. उषा | तेजस्कायिक |
| ६. शीतोष्णा | देव नारकी |
| ७. संवृत | देव, नारकी, एकेन्द्रिय |
| ८. विवृत | चिकलेन्द्रिय |
| ९. संवृतविवृत | गर्भ ज |

१. जीवोंको उत्पन्न स्थानको योनि कहते हैं। योनि और जन्ममें आधार आधेय का अन्तर है।

गर्भजन्म किसके होता है ?-

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थ- जरायुज, अण्डज, और पोत इन तीन प्रकारके जीवोंके गर्भजन्म ही होता है। अथवा गर्भजन्म उक्त जीवोंके ही होता है।

जरायुज- जालके समान मांस और खूनसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटे हुये जो जीव पैदा होते हैं उक्ते जरायुज कहते हैं। जैसे- गाय, भैंस, मनुष्य वर्गीकरण।

अण्डज- जो जीव अण्डे से उत्पन्न हो उन्हें अण्डज कहते हैं, जैसे- चील, कबूतर वर्गीकरण।

पोत- पैदा होते समय जिन जीवोंपर किसी प्रकार का आवरण

नहीं हो और जो पिंडा होते ही बलने फिरने लग जावें उन्हें प्रोत कहते हैं, जैसे-हरिण, सिंह बगैरह ॥ ३३ ॥

उपपाद जन्म किससे होता है ?

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थ- (देवनारकाणाम्) देव और नारकियोंके (उपपादः) उपपाद जन्म ही होता है अथवा उपपाद जन्म देव और नारकियोंके ही होता है ।

सम्मूच्छ्वन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूच्छ्वनम् ॥ ३५ ॥

अर्थ- (शेषाणां) गर्भ और उपपाद जन्मवालोंसे बाकी बचे हुए जीवोंके (सम्मूच्छ्वनम्) सम्मूच्छ्वन जन्म ही होता है । अथवा सम्मूच्छ्वन जन्म शेष जीवोंके ही होता है ।

नोट- एक त्रिधर्मसे लेकर अपैती चंचेन्द्रिय तिर्यचोंका नियमसे सम्मूच्छ्वन जन्म होता है । बाकी तिर्यचोंके गर्भ और सम्मूच्छ्वन दोनों होते हैं । लब्ध्यपर्याप्ति मनुष्योंका भी सम्मूच्छ्वन जन्म होता है ॥ ३५ ॥

शरीरके नाम व भेद-

औदारिकवैक्रियिकाहारक-

तैजसकार्मणानि शारीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थ- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर हैं ।

औदारिक शरीर - मथुर शरीर (जो दूसरेको छेड़े और दूसरेसे छिड़ सके) को औदारिक शरीर कहते हैं । यह मनुष्य और तिर्यचोंके होता है ।

१) उपर कहे हुए भीतर मञ्जोर 'पाश एव धनुधरः' को नग्न दानों औरमें निश्चम है ।

वैक्रियिक शरीर- जिसमें हल्के भारी तथा कई प्रकारके रूप बनानेको शाला हो उस वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह देव ओर नारकियोंके होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है।

आहारक शरीर- सूक्ष्मपदार्थके निर्णयके लिये या संयमकी रक्षाके लिये छठवें गुणस्थानबनी मुनिके मस्तकसे एक हाथका जो सफेद रंगका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर- जिसके कारण शरीरमें तेज रहे उसे तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर- ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

शरीरोंकी सूक्ष्मताका वर्णन-

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ- पूर्वसे (परं परम्) आगे आगेके शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म सूक्ष्म हैं। अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक, वैक्रियिकसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है ॥ ३७ ॥

शरीरके प्रदेशोंका विचार-

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्रात्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ- (प्रदेशतः) प्रदेशोंकी अपेक्षा (तैजसात् प्रात्) तैजस शरीरमें पहले पहलेके शरीर (असंख्येयगुणम्) असंख्यातगुणों हैं।

भावार्थ- औदारिक शरीरकी अपेक्षा असंख्यातगुणों प्रदेश (परमाण्) वैक्रियिकमें और वैक्रियिककी अपेक्षा असंख्यातगुणों आहारकमें हैं।

अनन्तगुणो परे ॥ ३९ ॥

अर्थ- (परे) बार्कोंके दो शरीर (अनन्तगुणों) अनन्तगुणों प्रदेशबाले

हैं । अर्थात् आहारक शरीरसे अनन्तगुणो प्रदेश तैजस शरीरमें और तैजस शरीरको अपेक्षा अनन्तगुणो प्रदेश कार्मण शरीरमें हैं ।

तैजस और कार्मण शरीरकी विशेषता- अप्रतिधाते ॥ ४० ॥

अर्थ- तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर अप्राप्निशात- बाधारहित हैं अर्थात् किसी भी मूर्तिक पदार्थसे न स्वयं रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं ।

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थ- ये दोनों शरीर आत्माके साथ अनादिकालसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं ।

नोट- यह कथन सामान्य तैजस और कार्मणकी अपेक्षासे है, विशेषकी अपेक्षा पहलेके शरीरोंका सम्बन्ध नष्ट होकर उनके स्थानमें नये नये शरीरोंका सम्बन्ध होता रहता है ।

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ- ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवोंके होते हैं ॥ ४२ ॥

एकसाथ एक जीवके कितने शरीर हो सकते हैं ?

तदादीनि भाज्यानियुगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थ- (तदादीनि) उन तैजस और कार्मण शरीरको आदि लेकर (युगपद) एकसाथ (एकस्य) एक जीवके (आचतुर्भ्यः) चार शरीर तक (भाज्यानि) विभक्त करना चाहिए । अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस कार्मण, तीन हों तो तैजस कार्मण और औदारिक अथवा तैजस कार्मण और

। आगे अग्रेक शरीरमें प्रदेशोंको अधिकत होनेपर भी उनका विवेश नोर्डिग्डको ताह मयन होता है इमर्निय व धार्यमें अन्यरूप होते हैं ।

वैक्रियिक, तथा चार हो तो तैजस कार्मण औदारिक और आहारक अथवा तैजस कार्मण औदारिक और वैक्रियिक होते हैं ॥ ४३ ॥

कार्मण शरीर की विशेषता- निरूपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ- (अन्त्यम्) अन्तका कार्मण शरीर (निरूपभोगम्) उपभोग गहित होता है ।

उपभोग-इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिकों ग्रहण करनेका उपभोग कहते हैं ॥ ४४ ॥

औदारिक शरीरका लक्षण- गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ- (गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम्) गर्भ और सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुआ शरीर (आद्यम्) औदारिक शरीर कहलाता है ॥ ४५ ॥

वैक्रियिक शरीरका वर्णन

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ- (औपपादिकं) उपपाद जन्मसे होने वाला टेब नार कियोंका शरीर (वैक्रियिकम्) वैक्रियिक कहलाता है ॥ ४६ ॥

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ- वैक्रियिक शरीर लब्धि-निमित्तक भी होता है ।

लब्धि-तपोविशेषसे प्राप्त हुई ऋद्धिको लब्धि कहते हैं ।

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ- तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय (ऋद्धिनिमित्तक) होता है ।

नोट- यह तैजस शुभ अशुभके भेदसे दो प्रकार का होता है । शुभ तैजस सफेद रंगका होता है और दाहने कार्यसे निकलता है और अशुभ लब्धिप्रत्यय वैक्रियिकको अपेक्षा ।

तैजस सिन्दुरके समान लाल रंगका होता है तथा बांये कन्धेसे प्रकट होता है। शुभ तैजससे १२ योजन सुभिक्ष आदि होते हैं और अशुभ तैजससे १२ योजन प्रमाण क्षेत्र भस्म हो जाता है।

आहारक शरीरका स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव

अर्थ- (आहारकम्) आहारक शरीर (शुभम्) शुभ हैं अर्थात् शुभ कार्यको करता है (विशुद्धम्) विशुद्ध हैं अर्थात् विशुद्ध कर्मका कार्य है (च) और (अव्याघाति) चाघातलाभ गहिन है तथा (प्रमत्तसंयतस्यैव) प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके ही होता है ॥ ४९ ॥

शरीरधेद स्वामी और जन्म-

| शरीर | स्वामी | जन्म |
|--------------|---|---------------|
| १. औदारिक | मनुष्य-तियज्ञ | गर्भस्मृच्छान |
| २. वैक्रियिक | देव नारकी (नारकी प्रत्ययको अपेक्षा मनुष्य भी) | तपासद |
| ३. आहारक | छठवें गुणस्थानवर्ती गुरुनि | — |
| ४. तैजस | समस्त संमारी | |
| ५. कार्मण | समस्त संमारी | |

लिंग (वेद) के स्वामी

नारकसमूर्धिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ- नारकीय और समूर्धिन जन्मबाले जीव नपुंसक होते हैं।

न देवाः ॥ ५१ ॥

अर्थ- देव नपुंसक नहीं होते। अर्थात् देवोंमें स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग ये ही ही लिंग होते हैं ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदः ॥५२ ॥

अर्थ- शेष बचे हुए मनुष्य और तिर्यक्क तीनों वेदवाले होते हैं।

अकालमृत्यु किनकी नहीं होती ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायु- षोऽनपवत्यायुषः ॥५३ ॥

अर्थ- उपपाद जन्मवाले देव नारकी, तद्वमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थक्लूर आदि तथा असंख्यात् वर्षों की आयुवाले- भोगभूमिके जीव परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् इन जीवोंकी असमयमें मृत्यु नहीं होती ॥५३ ॥

भावार्थ- आयुकर्मके निषेकोंका क्रमक्रमसे न छिरकर एक साथ छिर जाना अकाल मरण कहलाता है। यह अकाल मरण कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यक्कोंके ही सम्भव होता है। कर्मभूमिमें भी तद्वमोक्षगामी मनुष्योंके नहीं होता।

इति श्रीमद्भगवत्स्वामिविग्निते मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यादः ॥

प्रश्नावली

- (१) जीवके असाधारण भाव कितने हैं ?
- (२) इस समय तुम्हारे कितने भाव हैं ?
- (३) विग्रहगतियें जीव अनाहारक कवतक और व्यांग होता हैं ?
- (४) योनि और जन्ममें ऋग अन्नर हैं ?
- (५) ननुष्योंके ऊन कौनसे जन्म होते हैं ?
- (६) तुम्हारे कितने शरीर हैं ?
- (७) देवोंके आहारक शरीर हो सकता है या नहीं ?
- (८) यदि आगे आगेंक शरीर अधिक अधिक प्रदेशवाले हैं तो वे अधिक स्थानकों क्यों नहीं घेरते ?
- (९) भाष्य यह व्यात किस प्रकार जानते हैं कि अमुक व्यक्तिकों असमयमें मृत्यु हुई है ।
- (१०) भरकियोंके कौनसा लिङ्ग होता है ?

तृतीय अध्याय

अधोलोकका कर्णन

सात पृथिवियां-नरक-

**रत्नशक्तराबालुकापङ्कधूमतमोमहात्मःप्रभा
भूमयो घनाम्बूवाताकाशप्रतिष्ठाः
सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥**

अर्थ- (रत्नशक्तराबालुकापङ्कधूमतमोमहात्मःप्रभा) रत्नप्रभा, शक्तराप्रभा, बालुकाप्रभा, लङ्काभा, लग्नाभा और चहातमप्रभा, ये भूमियाँ (सप्त) सात हैं और क्रमसे (अधोऽधः) नीचे नीचे (घनाम्बूवाताकाशप्रतिष्ठाः) घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाशके आधार हैं।

विशेष- रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं- १ खारभाग, २ पङ्कभाग और ३ अब्बहूल भाग। इनमेंसे उपरके दो भागोंमें व्यंतर तथा भवनवासी देन रहते हैं, और नीचेके अब्बहूल भागमें नरकी रहते हैं। इस पृथिवीकी कुल मोटाई एक लाख अस्त्री हजार योजनकी है ॥ १ ॥

सात पृथिवियोंमें नरकों (बिलों) की संख्या-

**तासुत्रिंशत्पञ्चविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैक-
नरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥**

अर्थ- (तासु) उन पृथिवियोंमें (यथाक्रमम्) क्रमसे (त्रिंशत्

1. रत्नप्रभा आदि पृथिवीके नाम स्मर्थक हैं। रुद्र नाम इस प्रकार है। २. धागा, ३. कंपा, ४. मेजा, ५. अञ्जना, ६. आरशा, ७. पधवी और ८. माधवी। १२. दो हजार कंसा।

पञ्चविंशति पञ्चदश दश त्रिपञ्चोर्नेकनरकशतसहस्राणि) तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख पाँच कम एक लाख (च) और (पञ्च एव) पांच ही नरक विल हैं । ये विल जमीनमें गड़े हुए ढोलकीं पोल के समान होते हैं ॥ १ ॥

नारकियोंके दुःखका वर्णन

नारका नित्याशुभतरलोक्या^१ परिणाम- देहवेदनाविक्रिया: ॥ २ ॥

अर्थ- नारकी जीव हमेशा ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रियाके धारक होते हैं ।

परिणाम-स्पर्श गंध वर्ण और शब्दको परिणाम कहते हैं ।

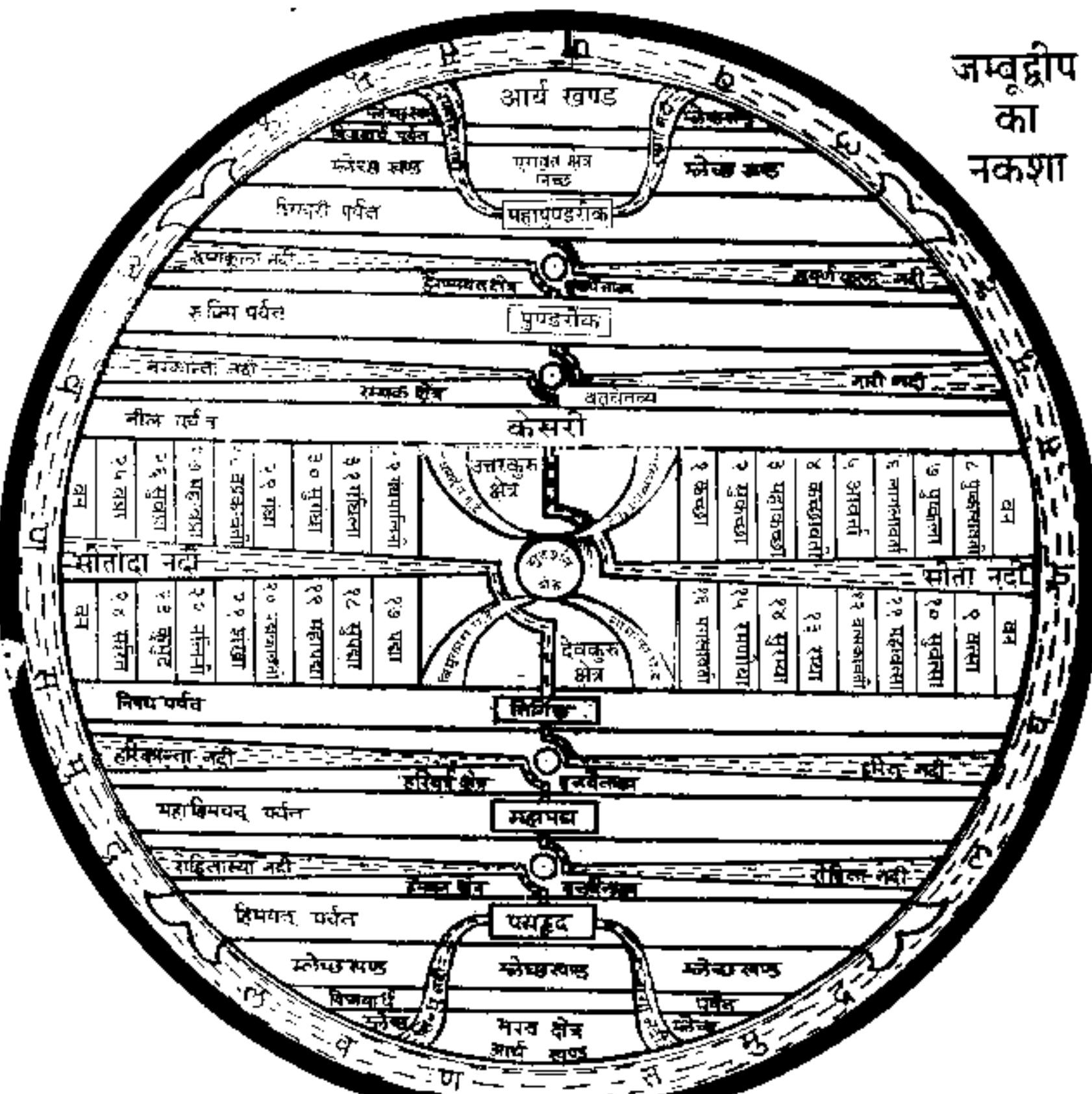
परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थ- नारकी जीव परस्परमें एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते हैं- वे कुनोंकी तरह परस्परमें लड़ते हैं ॥ ४ ॥

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्श्वाक् चतुर्थ्याः ।५ ।

1. यह द्वयलेश्याओंका वर्णन है जो कि आशुभ्यंत रहती हैं । शाब्द लेश्याएँ अन्तपृथक्तमें बदलतीं रहती हैं । परन्तु वह गरिवतंत आपने ही अबान्तर भेदमें ही होता है । पहली और दूसरी पृथ्वीमें क्रांपातीलेश्यादें, तीसरी पृथ्वीके ऊपरी भागमें क्रांपाती भैंग नीचने भागमें नील चौथोंमें नील, पांचवींके ऊपरी भागमें नील और नीचले भागमें कुण्ड छठवीं उंगीं मालवीं पृथ्वीमें भी क्रांपातेश्या होती है । 2. दूसरी पृथ्वीओं देहको उच्चाः ३ ऐश्वर्य, ४ हाश और ५ जग्नि है : नीचे के नरकोंमें क्रम क्रममें दूनी, दूने सूची होते हैं । ३ वेदना-१, २, ३ और ४ पृथ्वीों प्रियंक उष्ण वेदना, ५ वीं पृथ्वीके ऊपरी वहाँ में उष्ण और नीचे भागमें शीत उष्ण ६ और ७ वीं पृथ्वीमें उष्ण उष्ण उष्णको वेदना है ।

जमूद्दीप का नक्शा



दिग्बाग जैन पुस्तकालय, सूरत

फान - १०२६१) ४३७५२२

पाठ्य शास्त्र (तत्त्वार्थ मूल)

अर्थ- (च) और वे नारकी (चतुर्थ्यःप्राक्) चौथी पृथ्वीसे पहले पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त (संक्लिष्टमुरोदीरितदुःखाः) अन्यन्त संक्लिष्ट परिणामोंके धारक अम्बाकरीष जातिके असुरकुमार देवोंके द्वारा उत्पन्न दुःखसे युक्त होते हैं। अर्थात् तीसरे नरक तक जाकर अम्बाकरीष-असुरकुमार उन्हें पूर्व वैरका स्परण दिलाकर आपसमें लड़ते हैं और उन्हें दुःखों देखकर हर्षित होते हैं। उनके इसी प्रकारकी कषायका उदय रहता है।

नरकोमें उत्कृष्ट आयुका प्रमाण-

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंश-
त्सागरोपन्नां सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ- (तेषु) उन नरकोमें (सत्त्वानां) नारकी जीवोंकी (परा स्थितिः) उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे (एक त्रि सप्तदश द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा) एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर हैं।

नोट- नरकोमें भयानक दुःख होनेपर भी असमयमें मृत्यु नहिं होती ॥ ६ ॥

मध्य लोकका वर्णन

कुछ द्वीप समुद्रोंके नाम-

जम्बूद्वीपलवणोदादयःशुभनामानोद्वीपसमुद्राः ॥

अर्थ- इस मध्यलोकमें (शुभनामानः) अच्छे अच्छे नामबाले (जम्बूद्वीपलवणोदादयः द्वीपसमुद्राः) जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र हैं।

नरक व्यवस्था

| नं. | पृथिवी | बिल | शारीरकी केंचाई | लेशया | शोतोष्या | | उत्कृष्ट | जघन्य |
|-----|--------------|-----|----------------|------------------------|----------------|-------------|----------|--------------|
| | | | | | बेदना | आयु | | |
| १ | रत्नप्रभा | १३ | ३००००००० | ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल | जघन्य काषेत | उत्पा वेदना | १ सागर | दश हजार चर्ष |
| २ | शकेरप्रभा | ११ | २५६००००० | १५ धनुष २ हाथ १८ अंगुल | मध्यम काषेत | जघन्य वेदना | ३ सागर | १ सागर |
| ३ | बालुका प्रभा | १ | १५०००००० | ३१ धनुष ३ हाथ | उत्कृष्ट काषेत | उत्पा वेदना | ७ सागर | ३ सागर |
| ४ | पङ्कजप्रभा | ७ | १०००००० | ६२ धनुष २ हाथ | जघन्य नील | मध्यम नील | १० सागर | ७ सागर |
| ५ | धूपप्रभा | ५ | ३००००० | १३५ धनुष | उत्कृष्ट नील | उत्पा शीत | १७ सागर | १० सागर |
| ६ | हमारप्रभा | ३ | ११११५ | ३५० धनुष | जघन्य कृष्ण | मध्यम कृष्ण | १२ सागर | १७ सागर |
| ७ | महानप्रभा | १ | ५०० | ५०० धनुष | उत्कृष्ट कृष्ण | कहाशीत | ३३ सागर | २२ सागर |

नोट: १. यह लेशयाका क्रम 'स्वायुषः प्रपाणावधृताः दद्व्यलेश्या उक्तं भावलेश्यास्त्वन्तमुहूतं परिवर्त्तन्यः' इस सर्वार्थस्थितिके प्रतानुसार लिखा है। गोमप्रसार सभी नारिकर्योंके प्रतानुसार सभी ध्वनिस्फ़ूर्तिके विग्रहणातिमें शुक्ल, अपर्याप्तक अत्यन्त्यामें काषेत तथा पर्याप्तक अत्यन्त्यामें कृष्णद्व्यलेश्या होती है और भावलेश्याएं कृष्ण, नील तथा काषेत होती है जिनका क्रम उपर चित्रमें बताया गया है।

भावार्थ- सबके बीचमें थालीके आकारको जम्बूद्वीप है, उसके चारों तरफ लबणसमुद्र है, उसके चारों तरफ घातकीखण्ड द्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उसके चारों तरफ पुष्करवर द्वीप है, उसके चारों तरफ पुष्करवर समुद्र हैं। इस प्रकार एक दूसरे को धेरे हुये असंख्यात द्वीप समुद्र है। सबके अन्तके द्वीपका नाम स्वर्यं भूरमण द्वीप और अन्तके समुद्रका नाम स्वर्यंभूरमण समुद्र है ॥ ७ ॥

द्वीप और समुद्रोंका विस्तार और आकार

द्विद्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ८

अर्थ- प्रत्येक द्वीप समुद्र दूने दूने विस्तारवाले, पहले पहले के द्वीप समुद्रको धेरे हुए तथा छूड़ीके समान आकारवाले हैं।

जम्बूद्वीपका विस्तार और आकार

तन्मध्येमेरुनाभिर्वृत्तोयो जनशतसहस्रविष्कम्भो

जम्बूद्वीप ॥ ९ ॥

अर्थ- (तन्मध्ये) उन सब द्वीपसमुद्रोंके बीचमें (मेरुनाभिः) सुदर्शन । मेरु रूप नाभिसे युक्त (वृत्तः) थाली के समान गोल और (योजनशतसहस्रविष्कम्भः) एक लाख योजनविस्तारवाला जम्बूद्वीप^३) जम्बूद्वीप (अस्ति) है ॥ ९ ॥

१. शुदर्शन मेरुकी उंचाइ एक लाख योजन की है। जिसमें एक हजार योजन नीचे जानीगये और ०९ हजार योजन उपर है। मब अकूट्रिम नीजोंके नाममें २००० कोशका चढ़ा योजन निया जाता है। २. किसी भी गोल चौज की परिधि उसके गोलाईमें कुछ अधिक जिगुनी हुआ करती है। इस प्रकार जम्बूद्वीपकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दोमौ मताईम योजन तीन कोश एकमौ अड्डाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। ३. इस द्वीपमें बिंदेह श्रेष्ठान्तर्गत 'उत्तर कुरु भोगभूमि' में अनादि निपन पृथ्वीकाल अकूट्रिम जम्बु-जामुनका नृक्ष है, उसलिये इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है।

सात क्षेत्रोंके नाम

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यव-
तेरावतवर्षा: क्षेत्राणि ॥ १० ॥

अर्थ- इस जाग्नुद्वापमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक हैरण्यवत
और एरावत ये क्षेत्र हैं ॥ १० ॥

क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले ६ कुचालकोके नाम-
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिम-
वन्निषधनीलरुक्मिणिखरिणोवर्षधरपर्वताः । ११ ।

अर्थ- (तद्विभाजिनः) उन सात क्षेत्रोंका विभागकरने वाले
(पूर्वापरायता:) पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हिमवन्महाहिमवन्नि-
षधनीलरुक्मिणिखरिणः) हिमवत्, महाहिमवत्, निषध, नील, रुक्मिण्
और शिखरिण् ये छह (वर्षधरपर्वताः) वर्षधरकुलाचल पर्वत हैं । वर्ष-क्षेत्र
॥ ११ ॥

कुलाचलोंके वर्ण

हेमार्जुनतपनीयवैदूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

अर्थ- ऊपर कहे हुए पर्वत क्रमसे सुवर्ण, चांदी तपाया हुआ
सुवर्ण, वैदूर्य (नील) मणि, चांदी और सुवर्णके समान वर्णवाले हैं ॥
१२ ॥

कुलाचलोंका आकार

मणिविचित्रपाश्ची उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ।

अर्थ- (मणिविचित्रपाश्चाः) कई तरह की मणियों से चित्रविचित्र तटों से युक्त (उपरि मूले च) उपर नीचे और मध्यमें (तुल्यविस्ताराः) एक समान विस्तारवाले हैं ॥ १३ ॥

कुलाचलोंपर स्थित सरोवरोंके नाम
पद्ममहापद्मतिगिरुक्षेशरिष्टह पुण्डरीक
पुण्डरीका हृदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ- (तेषाम् उपरि) उन पर्वतों के ऊपर क्रमसे (पद्म-महापद्म तिगिरु के शारि महापुण्डरीक और पुण्डरीक हृदा :) पद्म, महापद्म तिगिरु, के शारिन, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके हृद-सरोवर हैं ॥ १४ ॥

प्रथम सरोवरकी लंबाई बीड़ाई
प्रथमो योजनसहस्रयामस्तदद्व्यविष्कम्भो हृदः ।

अर्थ- (प्रथमहृदः) पहला सरोवर (योजनसहस्रयामः) एक हजार योजन लम्बा और तदद्व्यविष्कम्भः) लम्बाई से आधा अर्थात् पांचसौ योजन विस्तारवाला है ॥ १५ ॥

प्रथम सरोवर की गहराई-

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ- पहला सरोवर दशयोजन गहरा है ॥ १६ ॥

उसके मध्यमें क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ- उसके बीचमें एक योजन विस्तारवाला कमल है ॥ १७ ॥

हृदोंका विस्तार आदि

| नं. | हृद नाम | स्थान | लम्बाई | चौड़ाई | गहराई | कमल | देवी |
|-----|------------------|-----------|-----------|-----------|---------|--------|---------|
| १ | पचा | हिमवत् | १००० योजन | ५०० योजन | १० योजन | १ योजन | श्री ही |
| २ | महापथ्य | महाहिमवत् | २००० योजन | १००० योजन | २० योजन | २ योजन | धृति |
| ३ | तिगच्छ | निषध | ४००० योजन | २००० योजन | ४० योजन | ४ योजन | कौति |
| ४ | केशरी (केशरिन) | नील | ५००० योजन | २००० योजन | ५० योजन | ५ योजन | बुद्धि |
| ५ | महापुण्ड्रीक | रुकिमन् | २००० योजन | १००० योजन | २० योजन | २ योजन | लक्ष्मी |
| ६ | पुण्ड्रीक | शिखरिन् | १००० योजन | १००० योजन | १० योजन | १ योजन | |

महापद्मा आदि सरोवर तथा उनमें रहनेवाले कमलोंका
प्रमाण-

तदद्विगुणद्विगुणा हृदा: पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थ- आगे के सरोवर और कमल क्रमसे प्रथम सरोवर तथा
उसके कमल से दूने दूने विस्तारवाले हैं।

नोट - यह दूने दूनेका क्रम तिगिञ्च नामक तीसरे सरोवर तक ही
है। उसके आगे तीन सरोवर और कमल दक्षिण सरोवर के कमलों के समान
विस्तारवाले हैं ॥ १८ ॥

कमलोंमें रहनेवाली छह देवियाँ-

**तत्रिवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य
पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः । १९ ।**

अर्थ- (पल्योपमस्थितयः) एक पल्यकी आद्य वाली तथा
(ससामानिक परिषत्काः) सामानिक और परिषद जातिके देवोंसे सहित
(श्रीह्रीधृतिकीर्तिलक्ष्म्यः) श्री ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी
(देव्यः) देवियाँ क्रमसे (तत्रिवासिन्यः) उन सरोवरोंके कमलों पर निवास
करती हैं।

१. उक्त कमलोंकी कणिंकाङ्क्ष गध्यभागमें एक कोश लग्दे आधे कोश चौड़े और कुछ
कम एक काश ऊंचे गंभेट रंगके भवन चर्ने हुए हैं। उन्हींमें ये देवियाँ रहती हैं तथा
उन्होंना तालबोंमें जो अन्य परिवार कमल हैं उनपर मामानिक और परिषद् देव रहते
हैं।

चौदह महानदियोंके नाम
 गङ्गासिन्धुरोहिंद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीता-
 सीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरुप्यकूलारक्तारक्तोदा:
 सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थ- गङ्गा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रुप्यकूला और रक्ता, रक्तोदा, ये चौदह नदियाँ जम्बूद्वीपके पूर्वोक्त ७ क्षेत्रोंके बीचमें बहती हैं।

विशेष- पहले पद्मा और छठवें पुण्डरीक नामक सरोवरसे तीन तीन नदियाँ निकलती हैं जागा जाकीले सरोवरके दो दो नदियाँ निकलती हैं। नदियों और क्षेत्रोंका क्रम इस प्रकार है- भरतमें-गंगा सिन्धु, हैमवतमें-रोहित रोहितास्या, हरिमें-हरित हरिकान्ता विदेहमें-सीता सीतोदा, रुप्यकमें-नारी नरकान्ता, हैरथवतमें-सुवर्णकूला, रुप्यकूला, और ऐरावतमें-रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं ॥ २० ॥

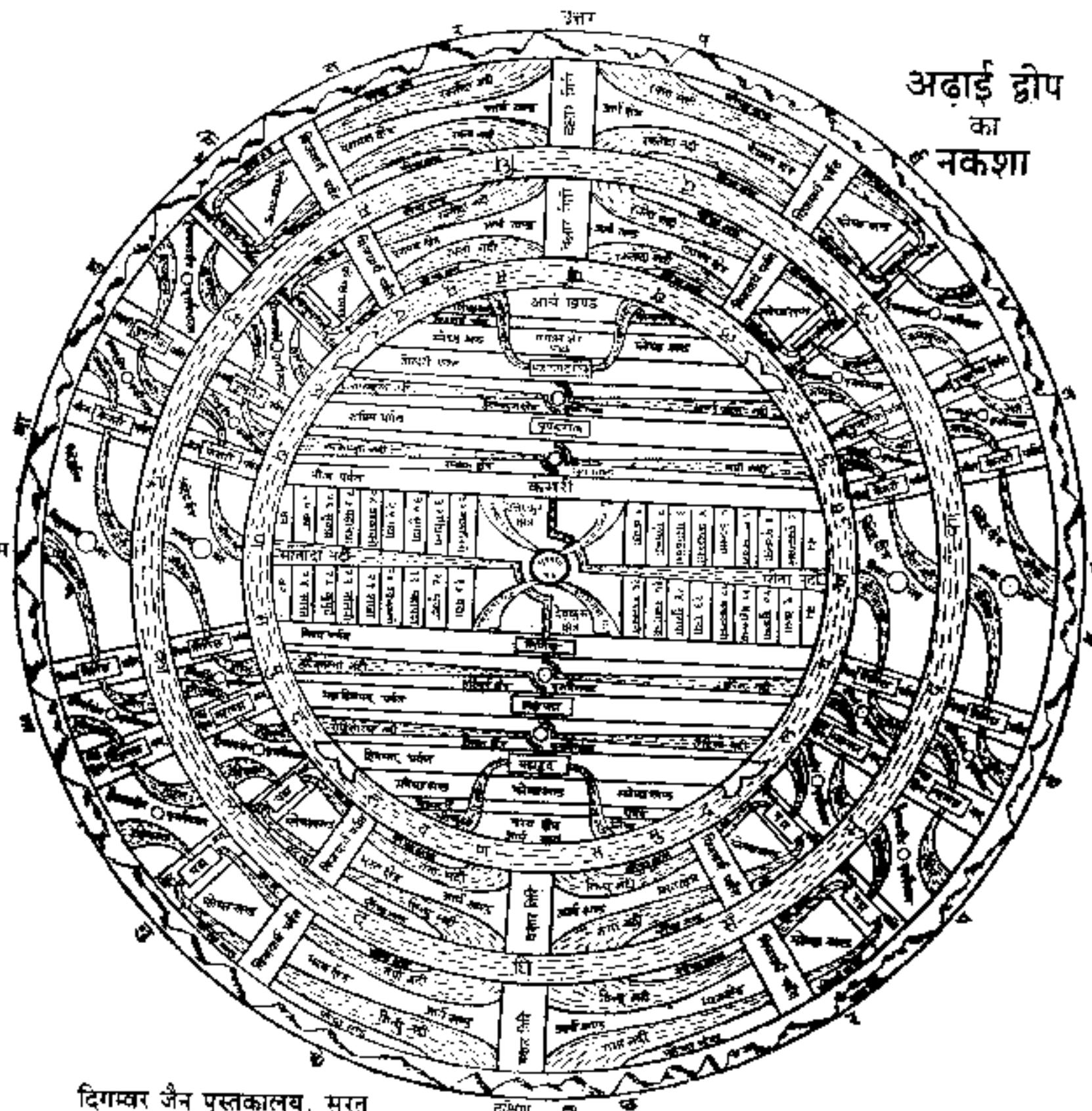
नदियोंके बहनेका क्रम
 द्वयोद्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ- सूत्रके क्रमानुसार गंगा सिंधु इत्यादि दो दो नदियोंमेंसे प्रथम नंबरवाली नदियाँ पूर्व समुद्रमें जाती हैं। जैसे गंगा सिंधुमें गंगा आदि ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

बाकी बची हुई सात नदियाँ पञ्चमकी ओर जाती हैं। जैसे गंगा सिंधुमें सिंधु आदि।

अदाई द्वीप
का
नक्शा



दिग्पात्र जैन पुस्तकालय, मुरत
फोन :- (०२६१) ४२७६३२

दुर्मिला

पाठ्य शास्त्र (तत्त्वार्थ मूल)

महानदियोंकी सहायक नदियाँ
 चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृतागङ्गासिन्धूवाद-
 योनद्या ॥ २३ ॥

अर्थ- गंगा सिंधु आदि नदियोंके युगल बौद्ध हजार सहायक नदियोंसे धिरे हुए हैं।

नोट- सहायक नदियोंका क्रम भी विदेह क्षेत्र तक आगे आगेके युगलोंमें पूर्वके युगलोंसे दूना दूना है। और उन्ह के तीन क्षेत्रोंमें दक्षिणके तीन क्षेत्रोंके समान है ॥ २३ ॥

| नदि युगल | सहायक नदी संख्या |
|----------------------|------------------|
| गंगा सिंधु | १४ हजार |
| रोहित-रोहितास्या | २८ हजार |
| हरित-हरिकाला | ५६ हजार |
| सीता-सीतोदा | ०१ लाख बारह हजार |
| नारी-नरकांता | ५६ हजार |
| सुवर्णकूला-रुप्यकूला | २८ हजार |
| रक्ता-रक्तोदा | १४ हजार |

भरतक्षेत्रका विस्तार-

भरतः षड्विंशतिंपञ्चयोजनशत विस्तारः
 षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४ ॥

अर्थ- (भरतः) भरतक्षेत्र (षड्विंशतिपञ्चयोजनविस्तारः) पांचसौ छब्बीस योजन विस्तारबाला (च) और (योजनस्य) एक योजनके (एकोनविंशतिभागः) उन्नीस भागोंमेंसे (षट्) छह भाग अधिक है।

भावार्थ - भरतक्षेत्रका विस्तार ५२६ $\frac{1}{2}$ योजन हैं ॥ ५४ ॥ १

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार -

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्तः ॥ २५ ॥

अर्थ - (विदेहान्तः) विदेहक्षेत्र पर्वतके (वर्षधरवर्षा) पर्वत और क्षेत्र (तद्विगुणद्विगुणः) भरतक्षेत्रसे दूने दूने विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

विदेह क्षेत्रके आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार -

उत्तरा दक्षिणतुल्या: ॥ २६ ॥

अर्थ - विदेहक्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तारवाले हैं ।

इनका क्रम इस प्रकार है -

| क्षेत्र और पर्वत | विस्तार | ऊचाई | गहराई |
|------------------|------------------------|--------|--------|
| भरत क्षेत्र | ५२६ $\frac{1}{2}$ योजन | + | + |
| हिमवत् कुलाचल | १०५२ $\frac{1}{2}$ " | १००यो. | २५यो. |
| हैमवत् क्षेत्र | २४०५ $\frac{1}{2}$ " | + | + |
| महाहिमवत् कुलाचल | ४२१० $\frac{1}{2}$ " | + | + |
| हरिक्षेत्र | ८४२१ $\frac{1}{2}$ " | + | + |
| निष्ठ शुक्लाचल | १६४२ $\frac{1}{2}$ " | ४००यो. | १००यो. |

पर्वत और ऐरावत् क्षेत्र के बीचमें पूर्व व पश्चिम तक जम्बे विजयाधि पर्वत है । जिनमें गढ़ा गिंग् और गङ्गारवनोंदा नदियोंके कारण दोनों क्षेत्रोंके छह छह खण्ड हो जाते हैं । इनमें गङ्गा का भाग उगड़ और लेपके पाँच मन्त्रखण्ड कहलाते हैं । दौर्घट्टर आदि पर्वतोंधर्मी पुस्तक भरत गिरवतके अयंखण्डमें और विदेह क्षेत्रोंमें उत्पन्न होते हैं ।

| | | | | | |
|------------------|-------|----------------|---|---------|---------|
| विदेह क्षेत्र | ३३६४४ | $\frac{1}{10}$ | " | " | " |
| नील कुलाचल | १६८४२ | $\frac{1}{10}$ | " | ५०० यो. | १०० यो. |
| रम्यक क्षेत्र | ८४२१ | $\frac{1}{10}$ | " | " | १०० यो. |
| खंडिम कुलाचल | ४२१० | $\frac{1}{10}$ | " | २०० यो. | ५० यो. |
| हेरण्यवत क्षेत्र | २१०५ | $\frac{1}{10}$ | " | " | ५० यो. |
| शिखरी कुलाचल | १०५२ | $\frac{1}{10}$ | " | २०० यो. | २५ यो. |
| ऐरावत क्षेत्र | ५२६ | $\frac{1}{10}$ | " | " | " |

भरत और ऐरावतक्षेत्रमें कालचक्र का परिवर्तन-
भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौषट् समयाभ्याम्-
उत्सर्पिण्यथ सर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थ- (षट् समयाभ्याम्) छह कालोंसे युक्त (उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके द्वारा (भरतैरावतयोः) भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जीवोंके अनुभव आदिको (वृद्धिहासी) बढ़ती तथा न्यूनता होती रहती है।

पाचार्थ- बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं- १ उत्सर्पिणी-जिसमें जीवोंके ज्ञान आदिकी वृद्धि होती है और २ अवसर्पिणी- जिसमें जीवोंके ज्ञान अदिका ह्रास होता है। अवसर्पिणीके छ भेद हैं- १ सुषमसुषमा २ सुषमा, ३ सुषमदुषमा, ४ दुषमसुषमा, ५ दुषमा और ६ अतिदुषमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणीके भी अतिदुषमाको आदि लेकर छह भेद हैं।

इन छह भेदोंके कालका नियम इस प्रकार है-

१-सुषमासुषमा-चार कोड़ाकोड़ी सागर, २ सुषमा-तीन कोड़ाकोड़ी सागर, ३ सुषमादुषमा-दों कोड़ा कोड़ी सागर, ४-दुषमा

सुषमा-व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोइकोड़ी सागर, ५ दुष्मा-इक्कीस हजार वर्ष ६-अतिदुष्मा-इक्कीस हजार वर्ष । भरत और ऐरावत क्षेत्रमें इन छह भेदों सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका परिवर्तन होता रहता है । असंख्यात अवसर्पिणी बीन जानेके बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल होता है । अभी हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है ॥ २७ ॥

नोट- भरत और ऐरावत क्षेत्र मध्यमी म्लेच्छखण्डों तथा विजयार्थ पर्वत की श्रेणियोंमें अवसर्पिणी कालके समय चतुर्थकालके आदिसे लेकर अन्त तक परिवर्तन होता है, और उत्सर्पिणी काल के समय दूसीय कालके अन्तसे लेकर आठदि तक परिवर्तन होता है । इनमें आर्थिकांडकी तरह छहों कालोंका परिवर्तन नहीं होता है और न इनमें प्रलयकाल पड़ता है ।

अन्य भूमियोंकी व्यवस्था-

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थ- (ताभ्याम्) भरत और ऐरावतके सिवाय (अपराः) अन्य (भूमयः) क्षेत्र (अवस्थिताः) एक ही अवस्थामें रहते हैं-उनमें कालका परिवर्तन नहीं होता ॥ २८ ॥

हैमवत आदि क्षेत्रोंमें आयुकी व्यवस्था-

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो

हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ- हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु (विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के निवासी मनुष्य तिर्यक्ष क्रमसे एक पल्य दो पल्य और तीन पल्यकी आयुकाले होते हैं ॥ २९ ॥

१. इन तीन क्षेत्रोंमें भनुप्योंके शरीरको ऊँचाह क्रमसे एक दो और तीन कांशकी होती हैं : शरीरका रोग क्रमसे नील, शुक्ल और पीत होता है । दो हजार धनुषका एक कांश होता है और चार हाथका एक धनुष होता है । शरीर की अवसाइना होटे योजन में होती है : चार कोशका होटा योजन होता है

हेरणथवत् आदि क्षेत्रोंमें आयुकी व्यवस्था- तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थ- उत्तरके क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्य भी हैमवत् आदिके मनुष्योंके समान आयुवाले होते हैं।

भावार्थ- हेरणथवत् क्षेत्रकी रचना है मूलन क्षेत्रके समान, सम्यककी रचना हरिक्षेत्रके समान और उत्तरकुरु (विदेहक्षेत्रके अन्तर्गत स्थान-विशेष) की रचना देवकुरुके समान है। इस प्रकार उत्तम, मध्यम और जघन्यरूप तीनों भोगभूमियोंके दो दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीपमें छ, भोगभूमियाँ और अद्वाईद्वीपमें कुल ३० भोगभूमियाँ हैं ॥ ३० ॥²

विदेहक्षेत्रमें आयुकी व्यवस्था विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थ- विदेहक्षेत्रमें मनुष्य और तिर्यक्षु संख्यात वर्षकी आयुवाले होते हैं ॥ ३१ ॥³

भरतक्षेत्रका अन्य प्रकारसे विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

अर्थ- भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपके एकसौ नववर्षों भाग है।

2. जिनमें सब तरहकी भोगांपभोगाको सामग्री कल्पनृशर्णमें प्राप्त होती है उन्हें भोगभूमि कहते हैं। 3. विदेहक्षेत्रमें मनुष्यों को ऊँचाइ सांचमाँ धनुष और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्वकी होती है जैसाँ लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है। एक पूर्वमें एक करोड़का गुण करने पर एक करोड़ पूर्व होता है।

नोट- २३वें सूत्रमें भरतक्षेत्रका जो विस्तार बतलाया है उसमें और इसमें कोई भेद नहीं है। सिफ़ कथन करनेका प्रकार दूसरा है। यदि एक लाखके एकसौ नव्वे हिस्से किये जायें तो उनमें हरएकका प्रमाण १२६ । योजन होगा ॥ ३२ ॥

धातकी खण्डका वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥

अर्थ- 'धातकीखण्डे' नामक दूसरे द्वीपमें क्षेत्र, कुलाचल मेरु, गदी आदि जनसत्त वदाधीकों रचना जम्बूद्वीपसे दूनी दूनी है ॥ ३३ ॥

पुष्कर द्वीपका वर्णन

पुष्कराद्वे च ॥ ३४ ॥

अर्थ- पुष्कराद्वे द्वीपमें भी जम्बूद्वीपको अपेक्षा सब रचना दूनी दूनी है।

विशेष- पुष्करवर द्वीपका विस्तार १६ लाख योजन हैं, उसके ठीक बीच में चूड़ीके आकार मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है, जिससे इस द्वीपके दो हिस्से हो गये हैं। पूर्वार्धमें सब रचना धातकीखण्डके समान है और जम्बूद्वीपसे दूनी दूनी हैं। इस द्वीपके उत्तरकुरु प्रांतमें एक पुष्कर (कमल) है, उसके संयोगसे ही इसका नाम पुष्करवर द्वीप पड़ा है ॥ ३४ ॥

मनुष्य क्षेत्र

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ- मानुषोत्तर पर्वतके पहले अर्थात् अङ्गार्द्वीपमें^२ ही मनुष्य

1. धातकीखण्ड द्वीप लवण्यमग्नुद्रको पेरे हुए है। इसका विस्तार ४ लाख योजन है। इसके उत्तरकुरु प्रांतमें धातकी (आंबला) का वृक्ष है, उसके संयोगसे इसका नाम धातकीखण्ड पड़ा है। 2. जम्बूद्वीप, लवण्यमग्नु धातकीखण्ड, क्रान्तोदयि और पुष्करगढ़ इनका क्षेत्र अङ्गार्द्वीप कहलाता है। इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

होते हैं। मानुषोंनार पर्वतके आगे ऋषिद्धारी मुनिश्वर तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते ॥ ३५ ॥

मनुष्योंके भेद-

आर्यमलेच्छाश्रु ॥ ३६ ॥

अर्थ- आर्य और मलेच्छके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं।

आर्य- जो अनेक गुणोंसे सम्पन्न हों तथा गुणी पुरुषजिनकी सेवा करें उन्हें आर्य कहते हैं।

मलेच्छ- जो आचार विचारसे भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्मकर्म का कुछ विवेक न हो उन्हें मलेच्छ कहते हैं ॥ ३६ ॥

कर्मभूमिका वर्णन-

भरतैरावतविदेहः

कर्मभूमयोऽन्यत्रदेवकुरुत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ- पांच^१ मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और देवकुरु-उत्तरकुरुको छोड़कर ५ विदेह, इस तरह अब्दाईद्वीपमें कुल १५ कर्मभूमियां हैं।

कर्मभूमि- जहाँपर असि, मसि, कृषि, वाणिन्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो उसे कर्म भूमि कहते हैं ॥ ३७ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति-

नृस्थिती परावरे त्रिपत्न्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ- मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्न्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है ॥ ३८ ॥

१. जान्मद्वीपका १, धातकीखण्डके २ और गृष्मगण्ड के ३ इस प्रकार कुल ५ मेरु होते हैं।

तिर्यक्षों की स्थिति- तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थ- तिर्यक्षोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त की है।

इन्हि श्री मदुमाण्डामिविराचते मं शशास्त्रे दृतीयोऽध्यायः

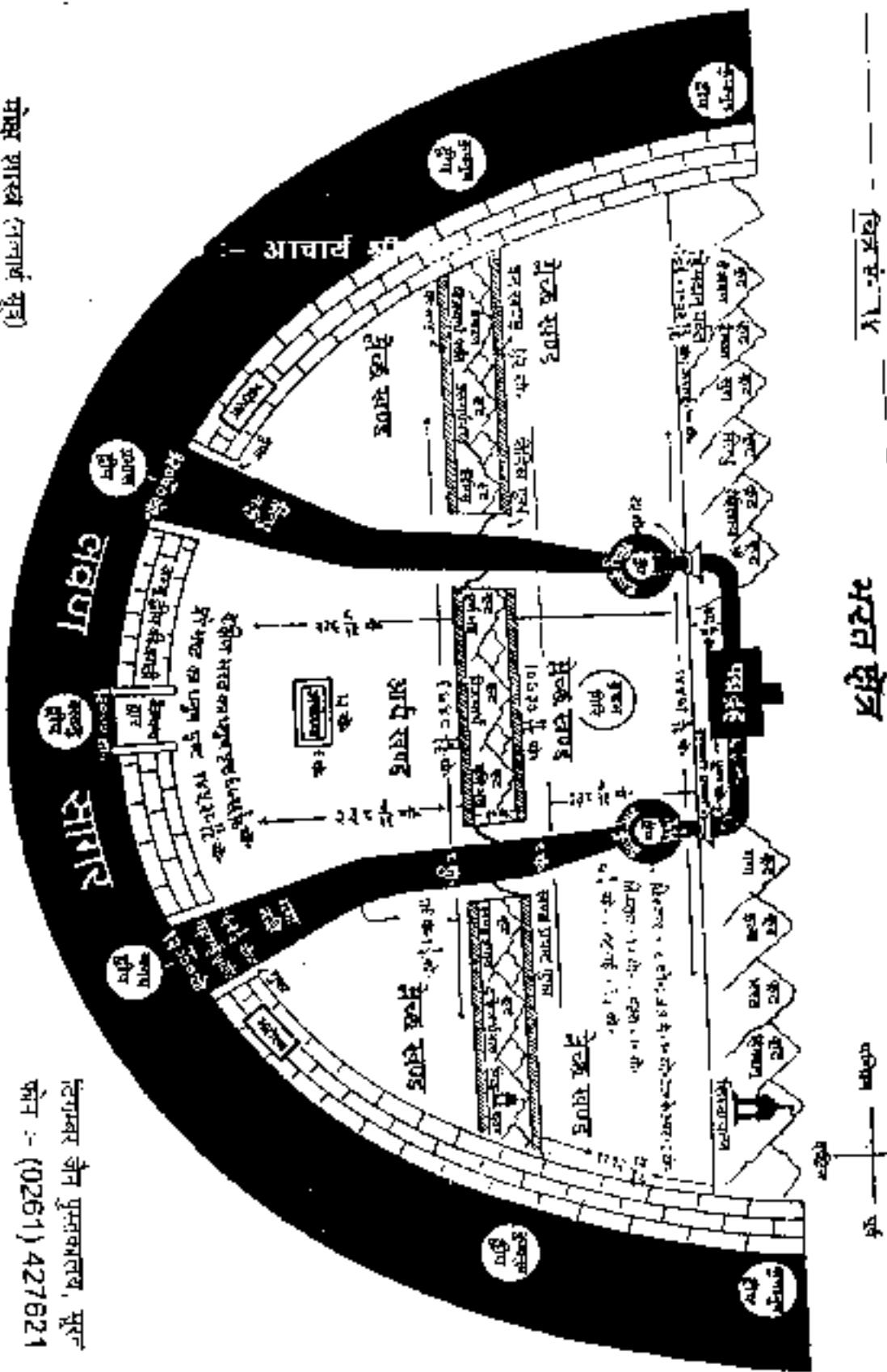
प्रश्नावली

- [१] नारकियोंके दुःखोंका वर्णन कर उनकी उत्कृष्ट आयु बताइये।
- [२] जम्बूद्वीप की परिधि कितनी हैं ?
- [३] कर्पभूमि और भोगभूमि के क्षेत्र बताइये।
- [४] ध्रातकी खण्ड द्वीप का चित्र बनाइये।
- [५] गङ्गा, सीतोदा, रक्तोदा और हरिकांता नदियोंके निंकलने तथा बहने के स्थान बताएं।
- [६] मानुषोत्तर पर्वत कहाँ है ?
- [७] मनुष्यों के भेद बताकर उनकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु के बारे में समझावें।
- [८] आप किस क्षेत्र में रहते हैं।
- [९] जम्बूद्वीपका नवरा बनाइए।
- [१०] तीर्थद्वार किस किस क्षेत्रमें जन्म लेते हैं ?

ચિત્રાંક

માર્ગ પત્ર

ପ୍ରକାଶକ



प्रैष्ठ शास्त्रं (नन्नाधं सुन्)

हॉटल जैन प्रसाद कालाय, मुराना
फोन : (0261) 427621

चतुर्थ अध्याय

देवों के भेद-

देवाश्रुतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ- देव चार समूहवाले हैं अर्थात् देवों के चार भेद हैं - १- भवनकासी, २- व्यज्ञर, ३- ज्योतिष्क, और ४- सामानिक। देव- जो देवगणि नामकर्मके उटयकी सामर्थ्य से नाना द्वीप समृद्ध तथा पर्वत आदि रमणीक स्थानों पर कीड़ा करने वे देव यहहुलाते हैं ॥ १ ॥

भवनत्रिक देवोंमें लेश्या का विभाग-

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ- पहलेके तीन निकायों में पीतान्त अर्थात् कृष्ण नील काषेत और पीत ये चार लेश्याएं होती हैं ॥ २ ॥

चार निकायोंके प्रभेद-

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्पर्यन्ताः ॥ ३ ॥

अर्थ- कल्पोपपन्न [सोलहवें स्वर्ण तकके देव] पर्यन्त उक्त चार प्रकारके देवोंके क्रमसे दश आठ पाँच और बारह भेद हैं ॥ ३ ॥

चार प्रकार के देवोंके सामान्य भेद-

इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपाला नीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिलिविषिकाश्वैकशः ॥ ४ ॥

अर्थ- उक्त चार प्रकार के देवोंमें प्रत्येक के इन्द्र, सामानिक प्रायमित्रि, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अर्नाक, प्रकोर्णक, आभियोग्य और किलिविषिक ये दस भेद होते हैं।

इन्द्र - जो देव दूसरे देवोंमें नहीं रहने वाली अणिमा आदि क्रहियोंसे सहित हीं उन्हें इन कहते हैं : चे देव, राजके दुर्युद्धोंमें हैं।

मामानिक - जिनकी आयु वीर्य भोग उपभोग आदि इन्द्रके तुल्य हीं, पर आज्ञारूप ऐश्वर्यसे रहित हीं, उन्हें सामानिक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंश - जो देव मन्त्री पुरोहितके स्थानापन्न हीं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। ये देव एक इन्द्रकी सभामें तेतीस ही होते हैं।

पारिषद - जो देव इन्द्रकी सभामें बैठनेवाले हीं उन्हें पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्ष - जो देव अंगरक्षकके सदृश होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं।

लोकपाल - जो कोतवालके समान लोकका पालन करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं।

अर्नीक - जो देव पदाति आदि सान तरहकी सेनामें विभक्त रहते हैं वे अर्नीक कहलाते हैं।

प्रकीर्णक - जो देव नगरवासियोंके समान हीं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग्य - जो देव दासोंके समान सबारी आदिके काम आवेदने वे आभियोग्य हीं।

किल्बिधिक - जो देव चाणडालादिकी तरह नीच काम करनेवाले हीं उन्हें किल्बिधिक कहते हैं।

व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें इन्द्र आदि भेदों की विशेषता त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का: ५

अर्थ व्यन्तर और ज्योतिषी देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल भेद से रहित हीं ॥ ५ ॥

देवोंमें इन्द्रकी व्यवस्था पूर्वयोद्धीन्द्रः ॥ ६ ॥

अर्थ- भवनवासी और व्यन्तरोंमें प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र होते हैं।

भावार्थ- भवनवासीयोंके दश भेदोंमें बीस और व्यन्तरों के आठ भेदोंमें सोलह इन्द्र होते हैं तथा इन्हें तीसरा होते हैं ॥ ६ ॥

देवोंमें स्त्रीसुखका वर्णन-

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ- [आ ऐशानात्] ऐशान स्वर्ग पर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले दूसरे स्वर्ग के देव [कायप्रवीचारा :] मनुष्यों के समान शरीर से काम सेवन करते हैं। प्रवीचार=कामसेवन ॥ ७ ॥

शोषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थ- शोष स्वर्ग के देव, देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से शब्द सुनने से और मनके विचारने से कामसेवन करते हैं। अर्थात् तीसरे और चाँथे स्वर्ग के देव देवाङ्गनाओं के स्पर्श से पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, स्वर्ग के देव देवियों के रूप देखने से, नौवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग के देव देवियों के शब्द सुननेसे तथा तेरहवें, चाँदहवें, पञ्चहवें और सोलहवें स्वर्ग के देव देवाङ्गनाओं के मनके विचारने मात्र से तुम हो जाते हैं-उनकी कामेंच्छा शांत हो जाती है ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचारा ॥ ९ ॥

अर्थ- सोलहवें स्वर्ग से आगे देव काम सेवनसे रहित होते हैं। इनके कामेंच्छा ही उत्पन्न नहीं होती, तब उनके प्रतिकारसे क्या प्रयोजन ? ॥ ९ ॥

भवनवासियों के दश भेद-
भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्नि
वातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थ- भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये दश भेद हैं।

व्यन्तर देवोंके आठ भेद-

व्यन्तराः किन्नरकिं पुरुषमहोरगगन्धर्व
यक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थ- व्यन्तरदेव, किन्नर, किम्पुरुष, पहोरग, गन्धर्व, यक्षराक्षस, भूत और पिशाच इस प्रकार आठ तरहके भेद होते हैं।

ज्योतिष्क देवोंके पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्ण
कतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थ- ज्योतिष्क देव सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारोंके भेद से पाँच प्रकार के हैं।

नोट- ज्योतिष्कदेवोंका निवास मध्यलोकके समधगतलमे ७९० योजनकी ऊँचाईसे लेकर १०० योजनकी ऊँचाई तक आकाशमें है। १३।

ज्योतिष्कदेवोंका विशेष वर्णन-

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नूलोके । १३ ।

अपग्रहपाद की ऊँचाई ५० पद्मलोक पन्तवाहनी देव और गत्यन्तराली १०४० पद्मलोक व्यवहार के अन्तर्मध्यमें पृथ्वीके योग विवरण दर्शाते हैं जहां वर्णनका वर्णन वर्णना की विवरण दर्शाते हैं। यहां वर्णना वर्णनकी विवरण दर्शाते हैं।

अर्थ- ऊपर कहे हुए न्योतिष्ठकदेव (नूलोंके) मनुष्यलोकमें [मेरुप्रदक्षिणाः] मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देने हुए [नित्यगतयः] हमेशा गमन करते रहते हैं । ॥ १३ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थ- [कालविभागः] प्रडी घण्टा दिन रात आदि व्यवहारकालका विभाग [तत्कृतः] उन्हीं गतिशील न्योतिष्ठक देवोंके द्वारा किया गया है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थ- मनुष्यलोक-अङ्गाइङ्गीपसे बाहरके न्योतिष्ठक देव स्थिर हैं ॥ १५ ॥

वैमानिक देवोंका वर्णन-

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ- अब यहांसे वैमानिक देवोंका वर्णन शुरू होता है ।

विमान- जिसमें रहनेवाले देव अपनेको विशेष पूण्यात्मा समझें उन्हें विमान कहते हैं और विमानोंमें जो पैदा हों उन्हें वैमानिक कहते हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेद-

कल्पोपपत्राः कल्पातोताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ- वैमानिक देवोंके दो भेद हैं- १. कल्पोपपत्र और २- कल्पातीत । जिनमें इन्ह आदि दश भेदोंकी कल्पना होती हैं ऐसे सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं, उनमें जो पैदा हों उन्हें कल्पोपपत्र कहते हैं । और जो सोलहवें स्वर्गसे आगे पैदा हों उन्हें कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

१. उग्रद्वाप्यम् २. लवण्यम्-दूरी ३. भाद्रकीष्णपदम् ४२. कालादीधम् ४३ और पृष्ठगदाम् ४४ भवते तथा इनमें से चंद्रमा है ।

कल्पोंका स्थितिक्रम-

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थ- सोलह स्वर्गोंके आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुनार ये सब वैभास क्रमसे ऊपर ऊपर हैं ॥ १८ ॥

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान-

सौधर्मशानसानत्कुमारमाहेन्द्र ब्रह्मब्रह्मोत्तरला-
त्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र सतार सहस्रारेष्वानत
प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजय
वैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च । १९ ।

अर्थ- सौधर्म-रेशान, सानत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लात्तव-
कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, सनार-सहस्रार इन छह युगलोंके बाहु स्वर्गोंमें,
आनत-प्राणत, इन दो स्वर्गोंमें आरण अच्युत इन दो स्वर्गोंमें, नव ग्रैवेयक
'विमानोंमें, नव अनुदिश - 'विमानोंमें और विजय वैजयन्त जयन्त
अपराजित तथा सर्वार्थमिद्धि इन पांच अनुनार विमानोंमें वैमानिक देव
रहते हैं ।

नोट- इस सूत्रमें घट्टपि अनुदिश विमानोंका पाठ नहीं है तथापि
'नवसु' इस पदसे उनका ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ १९ ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर अधिकता-
स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रिया वधि
विषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

१. नववेंवेयक मुदग्न, आंश, मुग्रवृद्ध, यशोधर, मृद्र, विशाल, मुमन, मौमनम
और प्रांतकर । २. नव अनुदिश, आदित्य, आंच, आंचंगल्ली, वैगोचन, प्रभान,
अच्युत, अचंपात्ति, अचिगवन और अच्चिन्दिगप ।

अर्थ- वैमानिक देव-आयु, प्रभाव, सुख, द्वृति, लेश्याकी विशुद्धता, इन्द्रिय विषय और अवधिज्ञानका विषय इन सबको अपेक्षा ऊपर ऊपर विमानोंमें अधिक अधिक हैं ॥ २० ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर हीनता- गतिशारीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थ- ऊपर ऊपरके देव, गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानको अपेक्षा हीन हीन हैं।

नोट- सालहर्वें स्वर्गसे आगेके देव अपने विमानको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते ॥ २१ ॥

वैमानिक देवोंमें शरीरकी ऊचाईका क्रम इस प्रकार है-

| स्वर्ग | हाथ | स्वर्ग | हाथ |
|--------|-----|----------------------|-----|
| १-२ | ७ | १३-१४ | १ |
| ३-४ | ६ | १५-१६ | ३ |
| ५-८ | ५ | अधोग्रीवेयक | २।। |
| ९-१२ | ४ | मध्यग्रीवेयक | २ |
| | | उपरिग्रीवेयक, अनुदिश | ।। |
| | | अनुत्तर विमान | १ |

वैमानिक देवोंमें लेश्याका वर्णन- पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषु ॥ २२ ॥

अर्थ- (द्वित्रिशेषु) दो युगलोंमें तीन युगलोंमें तथा शेषके समस्त विमानोंमें क्रमसे (पीतपद्मशुक्ललेश्या:) पीत पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।

विशेषार्थ- पहले और दूसरे स्वर्गमें पीतलेश्या, नीसरे और चौथे स्वर्गमें पीत और पद्म लेश्या, पांचवे, छठवे, सातवें आठवें स्वर्गमें पद्मलेश्या, नवमें, दशमें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्गमें पद्म और शुक्ललेश्या तथा शेष समग्र विमानोंमें शुक्ललेश्या है। अनुदिश और अनुन्तरके १४ विमानोंमें परम शुक्ललेश्या होती है ॥ २२ ॥

कल्पसंज्ञा कहांतक है ?

प्राणग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थ- (ग्रैवेयकेभ्यः प्राक्) ग्रैवेयकोंसे पहले पहलेके १६ स्वर्ग [कल्पाः] कल्प कहलाते हैं इससे आगेके विमान कल्पातीत हैं। नवग्रैवेयक वगोरहके देव एकसमान वैभवके धारी होते हैं और वे अहमिन्द्र कहलाते हैं ॥ २३ ॥

लौकान्तिक देव-

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

अर्थ: ब्रह्मलोक [पांचवां स्वर्ग] है आलय [निवासस्थान] जिनका ऐसे लौकान्तिक देव हैं ।

मोट ये देव ब्रह्मलोकके अन्तमें रहते हैं अथवा एक भवावतारी होनेसे लोक [संसार] का अन्त [नाश] करनेवाले होने हैं। इसलिये लौकान्तिक कहलाने हैं। ये द्वादशांगके पाठी होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थीकरोंके सिर्फ तपकल्याणकमें आते हैं। इन्हे 'देवर्षि' भी कहते हैं ।

लौकान्तिक देवोंके नाम

सारस्वतादित्यब्रह्मरूणगर्दतोयतु-

षिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ- १ सारस्वत, २ आदित्य, ३ ब्रह्म, ४ अरुण, ५ गदतोय, ६ तुष्टि, ७ अव्याबाध और ८ अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देव हैं। वे ब्रह्मलोकका ऐशान आदि आठ दिशाओंमें रहते हैं ॥ २५ ॥

अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवोंमें अवतारका नियम-

विजयादिषु द्विचरमा: ॥ २६ ॥

अर्थ-विजय वैजयंत जयंत अपराजित तथा अनुदिश विमानोंके अहमिन्द्र द्विचरम होते हैं, अर्थात् मनुष्योंके दो जन्म लेकर नियमसे मोक्ष चले जाते हैं। किन्तु सर्वार्थसिद्धिके अहमिन्द्र एक भवावतारी ही होते हैं ॥ २६ ॥

तिर्यङ्ग कौन है ?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७ ।

अर्थ-उपपाद जन्मवाले- देव नारकी तथा मनुष्योंसे अतिरिक्त जीव [तिर्यग्योनयः] तिर्यङ्ग है। तिर्यङ्ग समस्त संसारमें व्याप्त हैं। परन्तु ब्रह्मनालीमें ही रहते हैं।

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन-

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां

सागरोपमत्रिपल्योपमाद्विहीनमिताः ॥ २८ ॥

अर्थ- भवनवासीयोंमें असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार द्वीपकुमार और शेषके ६ कुमारोंकी आयु क्रमसे १ सागर, ३ पल्य, २ पल्य २ पल्य और । । पल्य है ॥ २८ ॥

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु ।

सौधर्मेशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

१. यद्यापि भवनवासीयोंके बदल बदला और व्यांतिक देवोंकी आयु बदलानेका क्रम ऐसा नहीं जापतके लियानमें यहाँ क्रमांग कर वैपासिक देवोंको आयु बदला रहे हैं।

अर्थ- मौधर्य ऐशान स्वर्गके देवोंकी आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

नोट- यहाँ 'सागरोपमे' इस द्विवन्ननाल प्रयोगसे ही दो सागर अर्थ किया जाता है ॥ २९ ॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थ- सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें देवोंकी आयु सात सागरसे कुछ अधिक है।

नोट- इस श्लोके अधिनुसार्योंकी अनुचूति यूर्ध्व सूक्ष्म हुई है ॥ ३० ॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्च

दशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

अर्थ- आगेके युगलोमें ७ सागरसे क्रमपूर्वक ३-७-१-११-१३ और १५ सागर अधिक आयु है। अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें १० सागरसे कुछ अधिक, लालत और कापिष्ठ स्वर्गमें १४ सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें १६ सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्गमें १८ सागरसे कुछ अधिक, आनन्द और प्राणत स्वर्गमें २० सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें २२ सागर उत्कृष्ट स्थिति हैं ॥ ३१ ॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रेवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

१. यह अधिकता धातायुक जीवोंकी अपेक्षा है। जिन्होंने पहले ऋगरकी स्वर्गोंकी आयु वांधी थी, ब्राह्म मंकलेश परिणामोंके कारण आयुमें छाप होकर नीचेके स्वर्गोंमें उत्पन्न होने हैं वे धातायुक कहलाने हैं, एम्बे देवोंकी आयु अन्य देवोंकी अपेक्षा आधा सागर अधिक होती है। २. मत्रमें 'तु' शब्द होनेके कारण अधिक शब्दका याप्तश्च बाहरवे स्वर्ग नक ही होता है, क्योंकि धातायुक जीवोंकी उत्पन्न यहीं तक होती है।

अर्थ- [आरण्याव्युतात्] आरण और अव्युत स्वर्गसे [उद्धर्म्] ऊपर [नवसु ग्रेवेयकेषु] नवग्रेवेयकोंमें [विजयादिषु] विजय आदि चार विमान तथा नव अनुदिशोंमें³ [च] और [सर्वार्थसिद्धी] सर्वार्थसिद्धि विमानमें [एकैकेन] एक एक सागर बढ़ती हुई आयु है। अर्थात् पहले ग्रेवेयकमें २३ सागर, दूसरेमें २४ सागर आदि। अनुदिशोंमें ३२ सागर और अनुज्ञरोंमें ३३ सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

नोट- सूत्रमें 'सर्वार्थसिद्धी' इस पदको विजयादिसे पृथक नहीं से सूचित होता है जिस सर्वार्थसिद्धिहमें लिखा उत्कृष्ट स्थिति ही होती है।

स्वर्गोमें जघन्य आयुका वर्णन-

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ- सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥ ३३ ॥⁴

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तराः ॥ ३४ ॥

अर्थ- [पूर्वापूर्वी] पहले पहले युगलकी उत्कृष्ट आयु [परतः परतः] आगे आगे के युगलोंमें [अनन्तराः] जघन्य आयु है। जैसे सौधर्म और ऐशान स्वर्गकी जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागरकी है वह सानुत्कृमार और माहेन्द्र स्वर्गमें जघन्य आयु है। इसी क्रमसे आगे जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं होती ॥ ३४ ॥

नारकियोंकी जघन्य आयु-

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थ- और इसी प्रकार दूसरे आदि नरकोंमें भी नारकियोंकी

3. आदि शब्द के 'प्रकारार्थक' होनेमें अनुदिशका भी ग्रहण होता है।

4. असंख्यात वर्षोंका एक पल्य होता है और दश कोडाकोडी पल्योंका एक सागर होता है।

जघन्य आयु है। अर्थात् पहले नरककी उत्कृष्ट आयु दूसरे नारककी जघन्य आयु है। इसी तरह समस्त नरकों में जानना चाहिए।

प्रथम नरककी जघन्य आयु-

दशवर्षसहस्राधणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ- पहले नरकमें नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षों की है ॥ ३६ ॥

भवनवासियोंकी जघन्य आयु-

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थ- भवनवासियोंमें भी जघन्य आयु दश हजार वर्षों की है ॥ ३७ ॥

व्यन्तरोंकी जघन्य आयु-

व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थ- व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षों की है ॥ ३८ ॥

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु-

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

अर्थ- व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥ ३९ ॥

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट आयु-

ज्योतिष्काणाम् च ॥ ४० ॥

अर्थ- ज्योतिष्क देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्यकी है ॥ ४० ॥

ज्योतिष्क देवोंकी जघन्य आयु- तदष्टुभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थ-ज्योतिष्क देवोंकी जघन्य आयु उस-एक पल्चके आठवें
भाग है ॥ ४१ ॥

लौकांतिक देवोंकी आयु- लौकांतिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

अर्थ- [सर्वेषाम्] समस्त [लौकांतिकानाम्] लौकांतिक
देवोंकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु [अष्टौ सागरोपमाणि] आठ
सागरप्रमाण है ॥ ४२ ॥

इन श्रीगण्डुमान्वार्णविरचितं पांशुशास्त्रं चतुर्थीऽप्यायः ।

प्रश्नावली

- (१) भवनत्रिकमें लेश्याएँ कौन कौन होती हैं ?
- (२) सोलहवें स्वर्गके आगेके देव प्रवीचारके बिना सुखी
किस तरह रहते हैं ?
- (३) सामानिक आत्मरक्षक और किल्बिषिक जातिके
देवोंके लक्षण बताओ ।
- (४) स्वर्गलोकका नकशा खींचकर यथास्थान सब
व्यवस्था दर्शाओ ।
- (५) सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य स्थिति कितनी है ?
- (६) व्यन्तर देव कहाँ रहते हैं ?
- (७) अङ्गाइट्रीपमें कितने सूर्य और कितने चन्द्रमा हैं ?
- (८) दिन आदिका विभाग किससे होता है ?
- (९) स्वर्गमें दिन रात होते हैं या नहीं ?
- (१०) लौकांतिक देवोंकी कितनी आयु है ?

देवनगरी व्यवस्था (भवनत्रिक)

| देव | निवास | भेद | इन्द्र | लेश्या | शरीरकी उक्ति आयु | जघन्य आयु | प्रबोचार |
|----------------|----------------------------|-----|--------|------------------------------------|------------------------|-----------------------------|-----------------|
| १ भवनवासी- | रत्नप्रभकार्यकब्लूल भाग | १० | ४० | कृष्ण नील कापोत और जघन्य पीत | २५ यजुष १ सामर | ३ पल्ल्य १ दशा हजार वर्ष | कायप्रदीप्तीचार |
| २ असुरकुमार | | | | " | १० | १½ " " | " |
| ३ नाशकुमार | | | | " | १० | २½ " | " |
| ४ विशुद्धकुमार | | | | " | १० | २½ " | " |
| ५ सुपर्णकुमार | | | | " | १० | १½ " | " |
| ६ ओरिनकुमार | | | | " | १० | १½ " | " |
| ७ वातकुमार | | | | " | १० | १½ " | " |
| ८ स्तनिनकुमार | | | | " | १० | १½ " | " |
| ९ उद्दिधुकुमार | | | | " | १० | ५½ " | " |
| १० हीषकुमार | | | | " | १० | २ " | " |
| ११ दिक्षकुमार | | | | " | १० | १½ " | " |

| देव | निवास | भेद इन्द्र | तेष्या | शरीरकी डैंचाई | उत्कृष्ट ^१ आयु | जपन्य आयु | प्रवीचार |
|--|--|---|-------------------------------------|------------------|------------------------------|------------------------------|----------------------------|
| ब्रह्मतर किंकर किपुरुष पहोरा गन्धर्व यश गाथ्यम भूत पिशाच ज्योतिष्क- | उपरित्य खरभाग उपरित्य खरभाग पङ्कपङ्कुल भाग उपरित्य खरभाग उपरित्य खरभाग | २३२ २२ २२ २२ २२ २२ २२ २२ २२ | कृष्ण, नील कायेत और जपन्य पीत | शरीरकी डैंचाई | एक पल्ल्यसे कुछ अधिक | दश हजार वर्ष काय प्रखीचार | |
| मूर्य चन्द्र पाह नक्षत्र | ११६६ ११६६ ११६६ ११६६ | २ | ५ | २ | २ | ११६६ ११६६ ११६६ ११६६ | ११६६ पल्ल्य ११६६ पल्ल्य |
| | | | | | | ११६६ ११६६ ११६६ ११६६ | ११६६ पल्ल्य ११६६ पल्ल्य |

देवगति व्यवस्था (कैमानिक देव)

| कल्प- | देव | निवास | भैर | इन्द्र | तेजा | शरीर की ऊंची | उम्रुष्ट आयु | जघन्य आयु | प्रधानार |
|-----------------------|----------|-------|-----|-----------------------------------|-------|--------------|--------------|-----------|----------|
| मोधम् ऐशान | ऋग्वेताक | 12 | 24 | पौत्र पौत्र पद्म पश्चलेश्या | 7 हाथ | 6 हाथ | १० | २ सार | स्पंगा |
| सानन्तनुमार-माहिन्द्र | " | " | " | " | " | ५ हाथ | १० | ७ | " |
| कहू ब्रह्मोत्तर | " | " | " | " | " | ५ हाथ | १० | १० | सार |
| नातव कार्पिष्ठ | " | " | " | " | " | ५ हाथ | १४ | १० | " |
| शुक्र-पहाशुक्र | " | " | " | " | " | ४ हाथ | १५ | १० | शुक्र |
| शतार-सहस्रार | " | " | " | " | " | ४ हाथ | १८ | १० | " |
| भानत प्राणत | " | " | " | " | " | ३½ हाथ | २० | १८ | प्राण |
| भारण-अम्बुत | " | " | " | " | " | ३ हाथ | २२ | १० | " |
| गैत्रेयक- | " | " | " | " | " | अहमिद | २½ हाथ | २३ | सार |
| मुद्रांन | " | " | " | " | " | शुक्र | २२ | २२ | अम्बीचार |
| अमोध | " | " | " | " | " | " | २४ | २३ | " |
| सुप्रबुद्ध | " | " | " | " | " | २५ | २३ | २३ | " |
| कशोभर | " | " | " | " | " | २६ | २० | २४ | " |
| सुग्रह | " | " | " | " | " | २७ | २० | २५ | " |
| विशाल | " | " | " | " | " | २८ | २० | २६ | " |
| सुमन | " | " | " | " | " | १½ हाथ | २९ | २७ | " |
| सौगान | " | " | " | " | " | ३० | १० | २९ | " |
| प्रीतिका | " | " | " | " | " | " | ३० | १० | " |

| देव | निवास | भेद | इन्द्र | तेश्या | शरीर की रु. | उत्पृष्ठ आयु | जपन्त आयु | प्रकीर्चार |
|---------------------|----------|-----|--------|-----------|-------------|--------------|-----------------|------------|
| अनुदिष्ट- आदित्य | कमर्कलोक | | | प्रमशुल्क | १½ हाथ | ३२ सागर | साधि ३१ सागर | अप्रवीचार |
| अर्चि | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| अनिमाली | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| वैरांचन | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| प्रथास | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| आचिप्रभ | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| अचिपंधु | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| अचिरावते | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| अचिविशिष्ट | " | | | " | " | ३२ " | " ३१ " | " |
| अनुजर- | | | | | | | | |
| विजय | " | | | १ हाथ | " | ३३ " | " ३२ " | " |
| विजयना | " | | | " | " | ३३ " | " ३२ " | " |
| जपयन्त | " | | | " | " | ३३ " | " ३२ " | " |
| अपराजित | " | | | " | " | ३३ " | " ३२ " | " |
| सर्वर्धमिद्दि | " | | | " | " | ३३ " | जपन्त नहीं होती | " |

(१) वैयानिक देवोंके १२ भेद इन्होंकी अपेक्षा है। १, २, ३, ५, तथा १३, १४, १५ और १६ वें स्वर्णमें प्रत्येक स्वर्ण का एक-एक इन्द्र तथा मध्यके ८ स्वर्णोंमें युगल युगलके इन्द्र हैं।

(२) पाँचवें स्वर्ण में जो लौकातिक देव रहते हैं उनकी आयु ८ सागर की होती है।

पंचम अध्याय

अजीवतत्वका वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्मकाशपुदगलः ॥ १ ॥

अर्थ- (धर्माधर्मकाशपुदगलः) धर्म अधर्म आकाश और पुदगल ये चार (अजीवकाया) अजीव तथा बहुप्रदेशी हैं।

नोट- इन सूत्रमें बहुप्रदेशी नहीं होनेसे काल द्रव्यका ग्रहण नहीं किया है । ॥ १ ॥

द्रव्योंकी गणना-

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थ- उक्त चार पदार्थ द्रव्य हैं। द्रव्यका लक्षण आगे के सूत्रोंमें कहा जावेगा ॥ २ ॥

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थ- जीव भी द्रव्य है।

नोट- यहाँ 'जीवः' इस बहुवचनसे जीवद्रव्यके अनेक भेद सूचिन होते हैं। इनके सिवाय ३१वें सूत्रमें कालद्रव्यका भी कथन होगा, इसलिये इन सबको मिलानेपर १-जीव द्रव्य, २-पुदगल द्रव्य, ३-धर्म द्रव्य, ४-अधर्म द्रव्य, ५-आकाश द्रव्य और ६-काल द्रव्य ये छह द्रव्य होते हैं ॥ ३ ॥

द्रव्योंकी विशेषता-

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थ- उपर कहे हुए सभी द्रव्य नित्य अवस्थित और अरूपी हैं।

जो द्रव्य मत्तारूप होकर बहुप्रदेशी हों उन्हें उपर्यन्तकाय कहते हैं । ने यहाँ है ।
१-आकाश, २-पुदगल, ३-धर्म ४-अधर्म और ५-आकाश।

कभी नष्ट नहीं होते इसलिए नित्य हैं। अपनी ६ संख्याका उल्लङ्घन नहीं करते इसलिए अवस्थित हैं और रूप रस, गन्ध तथा स्पर्शसे रहित हैं इसलिये अल्पी हैं ॥ ४ ॥

पुदगल द्रव्य अरूपी नहीं है-

स्त्रियाः पुदगलाः ॥ ५ ॥

अर्थ- पुदगल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

नोट- यद्यपि सूत्रमें पुदगलको सिर्फ रूपी बतलाया हैं; पर साहचर्यसे रस, गन्ध तथा स्पर्शका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ५ ॥

द्रव्योंके स्वभेदकी गणना-

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थ- आकाश पर्यंत एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक एक हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुदगलद्रव्य अनन्तानन्त हैं और कालद्रव्य असंख्यात (अणुरूप) हैं ॥ ६ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थ- धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य क्रिया रहित हैं।

क्रिया- एक स्थानसे दूसरे स्थानमें प्राप्त होनेको क्रिया कहते हैं।

नोट- धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं तथा आकाशद्रव्य लोक और अलोक दोनों जगह व्याप्त है; इसलिये अन्य क्षेत्रका अभाव होनेसे इनमें क्रिया नहीं होतीं ॥ ७ ॥

द्रव्योंके प्रदेशोंका वर्णन-

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ- (धर्माधर्मैकजीवानाम्) धर्म अधर्म और एक जीव द्रव्यके (असंख्येयाः) असंख्यात (प्रदेशाः) प्रदेश होते हैं।

प्रदेश- जितने क्षेत्रको एक पुदगल परमाणु रंकता हैं उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं।

नोट- सब जीव द्रव्योंके अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं, इसलिए सूत्रमें एक जीवका ग्रहण किया है ॥ ८ ॥

आकाशस्थानस्तोः ॥ ९ ॥

अर्थ- 'आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। परन्तु लोकाकाशके असंख्यात ही हैं ॥ ९ ॥

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुदगलानाम् ॥ १० ॥

अर्थ- (पुदगलानाम्) पुदगलोंके (संख्येयाऽसंख्येयाः व) संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

शब्दा- जब लोकाकाशमें असंख्यात ही प्रदेश हैं तब उसमें अनन्त प्रदेशवाले पुदगल द्रव्य तथा शेष द्रव्य किस तरह रह सकेंगे ?

समाधान- पुदगलद्रव्योंमें दो तरहका परिणमन होता है-एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसमें सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्त प्रदेशवाला पुदगल स्थान पा लेता है। इसके सिवाय समस्त द्रव्योंमें एक दूसरेको अवगाहन देनेकी सामर्थ्य है, जिसके अल्प क्षेत्रमें ही समस्त द्रव्योंके निवासमें कोई बाधा नहीं होती ॥ १० ॥

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थ- पुदगलके परमाणुके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं हैं अर्थात् वह एक प्रदेशी ही है ॥ ११ ॥

समस्त द्रव्योंके रहनेका स्थान-

लोकाकाशोऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थ- ऊपर कहे हुए समस्त द्रव्योंका अवगाह (स्थान) लोकाकाशमें है।

लोकाकाश । आकाशके जितने हिस्सेमें जीव आदि छहों द्रव्य पाए जावें उतने हिस्सेको लोकाकाश कहते हैं । बाकी हिस्सा अलोकाकाश कहलाता है ॥१२॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थ- धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह तिलमें तेलकी तरह समस्त लोकाकाशमें है ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुदगलानाम् ॥ १४ ॥

अर्थ- (पुदगलानाम्) पुदगलद्रव्यका अवगाह (एकप्रदेशादिषु) लोकाकाशके एक प्रदेशको लेकर संख्यात असंख्यात प्रदेशोंमें (भाज्यः) विभाग करने योग्य हैं ॥ १४ ॥

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

अर्थ- (जीवानाम्) जीवोंका अवगाह (असंख्येयभागादिषु) लोकाकाशके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकक्षेत्र में है ॥ १५ ॥

प्रश्न- जबकि एक जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है तब वह लोकके असंख्यातवें भागमें कैसे रह सकता है ? समाधान--

प्रदेशसंहारविसर्पभ्याम् प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थ-(प्रदीपवत्) दीपकके प्रकाशकी तरह (प्रदेशसंहार विसर्पभ्याम्) प्रदेशोंके संकोच और विस्तारके द्वारा जीव लोकाकाशके असंख्यातवें आदि भागोंमें रहता है अर्थात् जिस तरह एक बड़े मकानमें दीपकके रख देनेसे उसका प्रकाश समस्त मकानमें फैल जाता है और उसी दीपकको एक छोटेसे बर्तनके भीतर रख देनेसे उसका प्रकाश उसीमें संकुचित होकर रह जाता है, उभी तरह जीव भी जितना बड़ा या छोटा शरीर याता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है । परन्तु

केवली समुद्दात् । अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप हो जाता है और सिद्ध अवस्था में अनिष्ट शरीर से कुछ क्रम रहता है ॥ १६ ॥

धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार या लक्षण-
गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकारः ॥ १७ ॥

अर्थ- स्वयमेव गमन तथा स्थितिको प्राप्त हुए जीव और पुदगलोंको गति तथा स्थितिमें सहायता देना क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है ।

भावार्थ- जो जीव और पुदगलोंको चलनेमें सहायक हो उसे धर्म द्रव्य तथा जो ठहरनेमें महायक हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं ॥ १७ ॥

आकाशका उपकार या लक्षण-

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थ- समस्त द्रव्योंका अवकाश देना आकाशका उपकार है ।

भावार्थ- जो सब द्रव्योंको ठहरनेके लिये स्थान देवे उसे आकाश कहते हैं ॥ १८ ॥

पुदगल द्रव्यका उपकार-

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुदगलानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ- औदारिक आदि शरीर, वचन मन तथा श्वासोच्छ्वास ये पुदगलद्रव्यके उपकार हैं, अर्थात् शरीरदिकी रक्ता पुदगलसे ही होती हैं ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

१. पून शरीरको न लाँड़कर आत्माके प्रदंशोंके बाहर निकलनेको समुद्दात कहते हैं । इसके मात्र भेट शांत है । २. आहारक, ३. वैक्रियिक, ४. नैजस, ५. कण्य, ६. वेदना, ६. मारणान्तिक और ८. कैवर्त्ति-लोक पर्ण ।

अर्थ- इन्द्रियजन्य सुख दुःख जीवन और मरण ये भी पुदगल द्रव्यके उपकार हैं।

नोट १- इय मूत्रमें जो उण्याद शब्दका ग्रहण किया है उससे पूर्वित होता है कि पुदगल परस्परमें एक दूसरेका उपकार करते हैं जैसे- राख कांसेका, पानी लोहाका, सावन कपड़ेका आदि।

नोट- यहां उपकार शब्दका अर्थ निमित्त मात्र ही समझना चाहिए। अन्यथा दुःख, मरण आदि उपकार नहीं कहलावेंगे ॥ २० ॥

जीवोंका उपकार-

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ- जीवोंका परस्पर उपकार है अर्थात् जीव कारणवश एक दूसरेका उपकार करते हैं। जैसे-स्वामी सेवकका, सेवक स्वामीका, गुरु शिष्यका और शिष्य गुरुका ॥ २१ ॥

कालका उपकार-

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वेच

कालस्य ॥ २२ ॥

अर्थ- वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यके उपकार हैं।

वर्तना- जो द्रव्योंको बरतावें उसे वर्तना कहते हैं।

परिणाम- एक धर्मके त्याग रूप और दूसरे धर्मके ग्रहणरूप जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। जैसे जीवोंमें ज्ञानादि और पुदगलोंमें बण्ठादि।

क्रिया- हलन चलनरूप परिणामिको क्रिया कहते हैं।

2. यद्यपि मर्व द्रव्य अपने आप बनते हैं तथापि उपर्युक्त वर्तनामें जो ब्रह्म सहकारी क्रमण हो उसे वर्तना कहते हैं।

परन्वापरत्व छोटे बड़े व्यवहारको परन्वापरत्व कहते हैं। जैसे-
२५ वर्षके मनुष्यको बड़ा और २० वर्षके मनुष्यको उसकी अपेक्षा छोटा
कहते हैं।

ये सब कालद्रव्यकी शहायताले होते हैं, इसलिए इन्हें त्रेत्यकर
अमृतिक निश्चय कालद्रव्यका अनुमान कर लेना चाहिए ॥ २२ ॥

पुदगल द्रव्यका लक्षण-

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुदगलाः ॥ २३ ॥

अर्थ- स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले पुदगल होते हैं।

विशेष- ये चारों गुण हरएक पुदगलमें एक साथ रहते हैं।

इनके उनर भेद इस प्रकार हैं

स्पर्श के आठ भेद- १ कामल, २ कठोर, ३ हलका, ४ भारी,
५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध और ८ रुक्ष।

रसके पांचभेद- १ खट्टा, २ मीठा, ३ कड़वा, ४ कषायला और
५ चरपण।

गन्धके दो भेद १ सुगन्ध, २ दुर्गन्ध।

वर्णके पांच भेद- काला, नीला, पीला, लाल और सफेद। ये
बीस पुदगलके गुण कहलाते हैं क्योंकि हमेशा उसीमें रहते हैं ॥ २३ ॥

पुदगलकी पर्याय-

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतम-

श्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

अर्थ- उक्त लक्षणवाले पुदगल-शब्द, बन्ध, सौक्ष्मता, स्थूलता
संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत सहित हैं।
अर्थात् ये पुदगल की पर्याय हैं ॥ २४ ॥

पुदगलके भेद-

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ- पुदगलद्रव्य के अण और स्कन्ध इस प्रकार दो रूप हैं।

अणु- जिसका दूसरा विभाग न हो सके ऐसे पृदगलको अणु कहते हैं।

स्कन्ध- दो तीन संघात असंघात तथा अनन्त परमाणुओंके पिण्डको स्कन्ध कहते हैं ॥ २५ ॥

स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण-

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थ- पृदगलदब्यके स्कन्ध, भेद-विछुड़ने, संघात-मिलने और भेद संघात- दोनोंसे उत्पन्न होते हैं। जैसे १०० परमाणुवाला स्कन्ध है उसमेंसे १० परमाणु बिखर जानेसे १० परमाणुवाला स्कन्ध बन जाता है और उसीमें १० परमाणु मिल जानेसे ११० परमाणुवाला स्कन्ध बन जाता है और उसीमें एकसाथ दश परमाणुओंके विछुड़ने और १५ परमाणुओंके मिल जानेसे १०५ परमाणुवाला स्कन्ध बन जाता है।

नोट- सूत्रमें द्विवचनके स्थानमें जो बद्वचन रूप प्रयोग किया उसीसं यह तीसरा अर्थ व्यक्त हुआ है ॥ २६ ॥

अणुकी उत्पत्तिका कारण-

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थ- अणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है ॥ २७ ॥

चाक्षुष (देखनेयोग्य-स्थूल) स्कन्धकी उत्पत्ति-

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

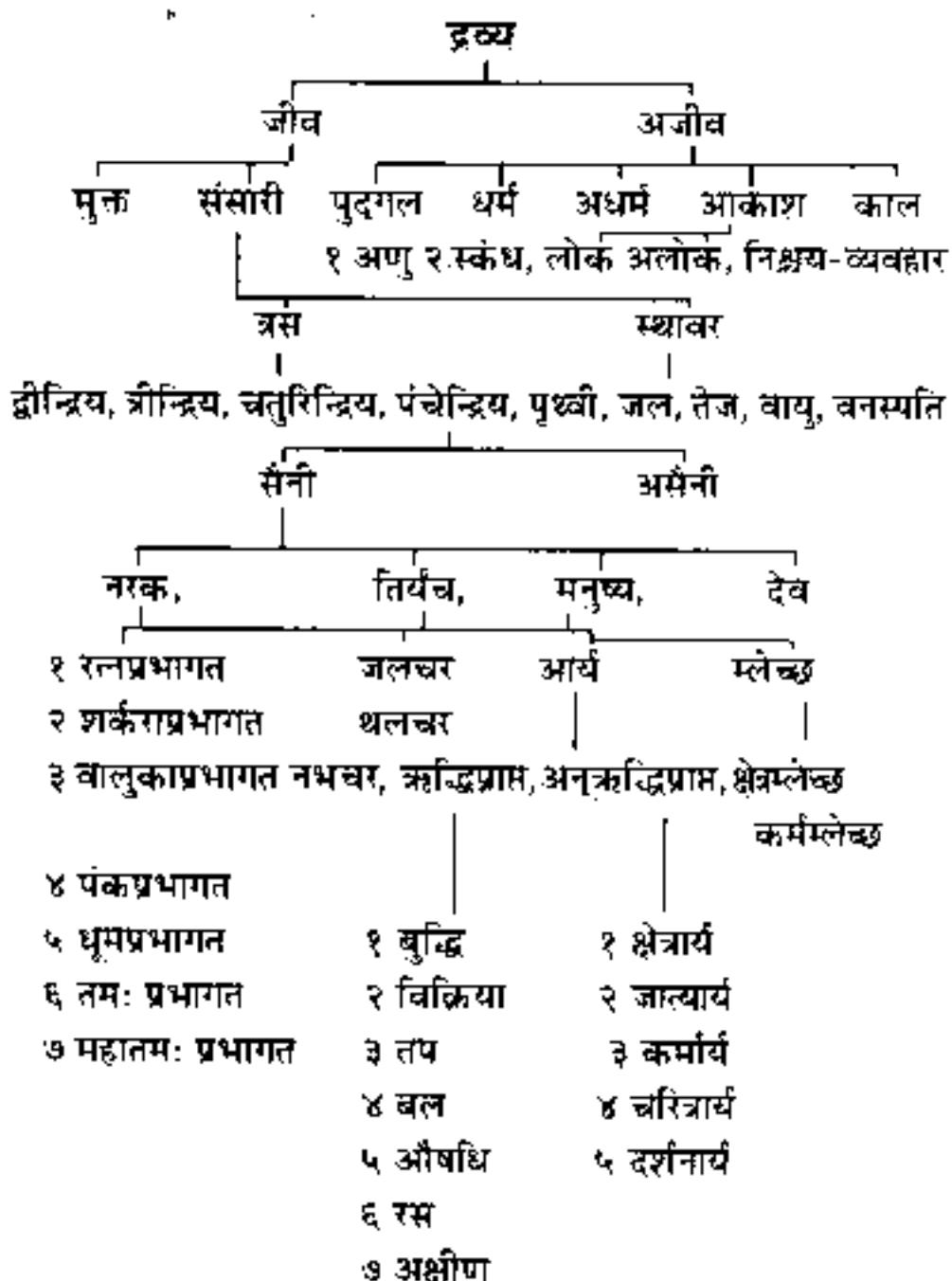
अर्थ- (चाक्षुषः) चक्षुइन्द्रियसे देखने योग्य स्कन्ध (भेदसंघाताभ्याम्) भेद और संघात दोनोंसे ही उत्पन्न होते हैं। अकेले भेदसे उत्पन्न नहीं हो सकते ॥ २८ ॥

द्रव्यका लक्षण-

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थ द्रव्यका लक्षण सत् (अस्तित्व) है ॥ २९ ॥

द्रव्य विभाग



सत्‌का लक्षण-

उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थ- जो उत्पाद, व्यय और धौव्य कर सहित हो वह सत् है।

उत्पाद- द्रव्यमें नवीन पर्यायिकी उत्पत्तिको उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्ठीको पिण्डपर्यायसे घटका।

व्यय- पूर्व पर्यायके विनाशको व्यय कहते हैं। जैसे घटपर्याय उत्पन्न होनेपर पिण्डपर्यायका।

धौव्य- दोनों पर्यायोंमें मीजुद रहनेको धौव्य कहते हैं। जैसे पिण्ड तथा घटपर्यायमें मिट्ठीका ॥ ३० ॥

नित्यका लक्षण-

तदभावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ- जो द्रव्य तदभावरूपसे अव्यय है वही नित्य है।

भावार्थ- प्रात्यभिज्ञानके हेतुको सद्भाव कहते हैं। जिस द्रव्य को पहले समयमें देखनेके बाद दूसरे आदि समयोंमें देखने पर 'यह वही है जिसे पहले देखा था' ऐसा जोड़रूप ज्ञान हो वह द्रव्य नित्य हैं। परंतु यह नित्यता पदार्थमें सामान्य स्वरूपका अपेक्षा होती है, विशेष अर्थात् पर्यायिकी अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य हैं। इसलिये संसारके सब पदार्थ नित्यनित्यरूप हैं ॥ ३१ ॥ १

प्रश्न- एक ही द्रव्यमें नित्यता और अनित्यता ये दो विरुद्ध धर्म किस प्रकार रहते हैं ? समाधान-

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ- विवक्षित और अविवक्षितरूपसे एक ही द्रव्यमें नाना धर्म रहते हैं। वक्ता जिस धर्मको कहनेकी इच्छा करता है उसे अर्पित-विवक्षित कहते हैं। और वक्ता उस समय जिस धर्मको नहीं कहना चाहता है वह अनर्पित अविवक्षित है। जैसे वक्ता यदि द्रव्यार्थिक नवसे बस्तुका प्रतिपादन

1 " निन्यं तदेवेदभिति प्रतीतेन नित्यमन्यत्वानांनागतः ।

२ न द्विद्वये वहिरन्महार्विनन्तैमित्तिकयोगतम्नः ॥ सपन्तभद्र ।

करेगा तो नित्यता विवक्षित कहलावेगी और यदि पर्यायाधिक नयसे प्रतिपादन करेगा तो अनित्यता विवक्षित होगी। जिस समय किसी पदार्थको दब्बकी अपेक्षा नित्य कहा जा रहा हैं उसी समय वह पदार्थ पर्यायिकों अपेक्षा अनित्य भी है। पिता, पुत्र मामा, भानजा आदिकी तरह एक ही पदार्थमें अनेक धर्म रहने पर भी विरोध नहीं आता है ॥ ३२ ॥

परमाणुओंके बन्ध होनेमें कारण

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थ- विकलाई और रूखापनके निमित्तसे दो तोन आदि परमाणुओंका बन्ध होता है।

बन्ध- अनेक पदार्थोंमें एकपनेका ज्ञान करानेवाले सम्बन्ध विशेषको बन्ध कहते हैं ॥ ३३ ॥

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ- जघन्य गुण सहित परमाणुओंका बन्ध नहीं होता।

गुण- स्निग्धता और रूक्षताके अविभागी प्रतिच्छेदों (जिसका दुकड़ा न हो सके ऐसे अंशों) को गुण कहते हैं।

जघन्य गुणसहित परमाणु- जिस परमाणुमें स्निग्धता और रूक्षताका एक अविभागी अंश हो उसे जघन्य गुणसहित परमाणु कहते हैं ॥ ३४ ॥

गुणसाम्ये सदशानाम् ॥ ३५ ॥

अर्थ- गुणोंकी समानता होनेपर समान जातिवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। जैसे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुका दूसरे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता।

1. जैनागममें यह 'सुत्र स्याद्दद मिदान्त' का मूलभूत है। पाठक दही मथनवालों गोपी आदिका उदाहरण देकर विद्यार्थियोंकी विविक्षा, अविविक्षा, गौणना, मुख्यता आदिका स्वरूप समझनेका प्रयत्न करें।

नोट- सूत्रमें “सहशानाम्” इस पदके ग्रहणसे प्रकट होता है कि गुणोंकी विषमतामें समान जातिवाले अथवा भिन्न जातिवाले पुद्गलोंका बन्ध हो जाता है ॥ ३५ ॥

बन्ध किनका होता है-

द्वयाधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थ- किन्तु दो अधिक गुणवालोंके साथ ही बन्ध होता है। अर्थात् बन्ध तभी होगा जब एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें दो अधिक गुण होवें। जैसे दो गुणवाले परमाणुका चार गुणवाले परमाणुके साथ बन्ध होगा इससे अधिक व कम गुणवालेके साथ नहीं होगा। यह बन्ध स्तिर्घ स्तिराधिका, रुक्ष रुक्षका और स्तिर्घ रुक्षका भी होता है ॥ ३६ ॥

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

अर्थ- (च) और (बन्धे) बन्धरूप अवस्थामें (अधिकौ) अधिक गुणवाले परमाणुओंको अपने रूप (पारिणामिकौ) परिणामनेवाले होते हैं। जैसे गीला गुड़ अपने साथ बन्धको ग्राम हुए रजको गुडरूप परिणाम लेता है ॥ ३७ ॥

द्रव्यका लक्षण-

गुणपर्यवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थ- जिसमें गुण और पर्याय पाई जावे उसे द्रव्य कहते हैं।

गुण- द्रव्यकी अनेक पर्याय पलटते रहनेपर भी जो द्रव्यसे कभी पृथक् न हो, निरन्तर द्रव्यके साथ रहे उसे गुण कहते हैं।² जैसे जीवके ज्ञान आदि, पुद्गलके रूप रसादि।

2 यह द्रव्यका लक्षण पृथक्लक्षणमें भिन्न नहीं है। मिथ शब्दभेद है अर्थात् नहीं। कर्त्ताकी पर्यायमें उत्पाद और ल्यगकी तथा गुणमें धौल्य अर्थकी प्रतीति हो जाती है।

पर्याय- क्रमसे होनेवाली रस्तुकी विशेषताको पर्याय कहते हैं जैसे जीवकी नर नारकादि ॥ ३८ ॥

काल भी द्रव्य है-

कालश्च ३ ॥ ३९ ॥

अर्थ- काल भी द्रव्य है, क्योंकि यह भी उत्पाद व्यय धौव्य तथा गुण पर्यायोंसे सहित है।

नोट- यह काल द्रव्य रस्तोंकी राशिकी तरह एक दूसरेसे पृथक् रहते हुए लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंपर स्थित हैं। यह एकप्रदेशी और अमूर्तिक है ॥ ३९ ॥

कालद्रव्यकी विशेषता-

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थ- वह काल द्रव्य अनन्त समयवाला है। यद्यपि बर्तमान काल एक समयमात्र ही है तथापि भूत भविष्यतकी अपेक्षा अनन्त समयवाला है।

समय- कालद्रव्यके सबसे छोटे हिस्सेको समय कहते हैं। मंदगतिसे चलनेवाला पुदगल परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जितने कालमें पहुँचता है उतना काल एक समय है। इन समयोंके समूहसे ही आवली, घण्टा आदि व्यवहारकाल होता है। व्यवहारकाल निश्चय कालद्रव्यकी पर्याय है।

निश्चय कालद्रव्य- लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर रस्तोंकी राशिकी तरह जो स्थित है उसे निश्चय कालद्रव्य कहते हैं। बर्तना उसका कार्य है ॥ ४० ॥

गुणका लक्षण-

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

३. 'च' का अन्वय 'द्रव्याणि' मूँछके साथ है।

अर्थ- जो द्रव्यके आश्रय हों और स्वयं दूसरे गुणोंसे रहित हों वे गुण कहलाते हैं, जैसे-जीवके ज्ञान आदि। ये जीव द्रव्यके आश्रय रहते हैं तथा इनमें कोई दूसरा गुण नहीं रहता ॥ ४१ ॥

पर्यायका लक्षण-

तदभावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थ- जीवादि द्रव्यजिस रूप हैं उनके उसीरूप रहनेको परिणाम या पर्याय कहते हैं। जैसे जीवकी नर-नारकादि पर्याय ॥ ४२ ॥

विशेष- पर्यायके दो भेद हैं- १ व्यञ्जन पर्याय और २ अर्थ पर्याय। प्रदेशलाल्य गुणके तिळारको लाल्यन पर्याय कहने हैं और अन्य गुणोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंके परिणामनको अर्थ पर्याय कहते हैं।

इति श्रीगातुमाम्बामिविरचिते गोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥

प्रश्नावली

- (१) अस्तिकाय किसे कहते हैं च कितने हैं ?
- (२) जीव असंख्यात-प्रदेशी होनेपर भी अल्य शरीरमें किस प्रकार रहता है ?
- (३) कालद्रव्यके क्या उपकार हैं ?
- (४) अलोकाकाशके आकाशमें कालद्रव्यके बिना उत्पाद आदि किस तरह होते हैं ?
- (५) पुद्गल द्रव्यके कितने प्रदेश हैं ?
- (६) 'अपितानपितसिद्धे' इस मूत्रका क्या आश्रय है ?
- (७) 'जघन्य गुण' शब्दका क्या अर्थ है ?
- (८) बन्ध किन-किनका होता है ?
- (९) यदि कर्म द्रव्य न मानकर उसका कार्य आकाश द्रव्यसे लिया जावे तो क्या हानि होगी ?
- (१०) काल द्रव्य अजीव क्यों है ?

षष्ठु अध्याय

आस्त्रव तत्वका वर्णन

योगके भेद व स्वरूप-

कायवाइमनः कर्मयोगः ॥ १ ॥

अर्थ- काय, वचन और मनको कियाको योग कहते हैं। अर्थात् काय, वचन और मनके द्वारा आत्माके प्रदेशोंमें जो परि(हलन-चलन) होता है उसे योग कहते हैं। योगके तीन भेद हैं-

काययोग- कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन-चलन होता है उसे काययोग कहते हैं।

वचनयोग- वचनके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन-चलन होता है उसे वचनयोग कहते हैं।

मनोयोग- मनके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन-चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

इन तीनों योगोंकी उत्पत्तिमें बीर्यन्तराय कर्मका क्षयोपशम कारण है ॥ १ ॥

आस्त्रवका स्वरूप-

स आस्त्रवः ॥ २ ॥

अर्थ- वह तीन प्रकारका योग ही आस्त्रव है। जिस प्रकार कुएंके भीतर पानी आनेमें झिरे कारण होती है उसी प्रकार आत्मामें कर्म आनेमें योग कारण हैं। कर्मोंके आनेके द्वारको आस्त्रव कहते हैं।

नोट- यद्यपि योग आस्त्रवके होनेमें कारण है तथापि सूत्रमें कारणमें कार्यका उपचारकर उसे आस्त्रव सप कह दिया है। जैसे- प्राणोंकी स्थितिमें कारण होनेसे अन्न ही को प्राण कह देते हैं ॥ २ ॥

योगके निमित्तसे आस्त्रवका भेद-

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ- शुभ योग पुण्यकर्मके आस्त्रवमें और अशुभ योग पापकर्मके आस्त्रवमें कारण है।

शुभयोग- शुभ परिणामोंसे रचे हुए योगको शुभयोग कहते हैं। जैसे- अरहन्त भक्ति करना, जीवोंकी रक्षा करना आदि।

अशुभ योग- अशुभ परिणामोंसे रचे हुए योगको अशुभ योग कहते हैं। जैसे- जीवोंकी हिंसा करना, झूठ बोलना आदि।

पुण्य- जो आत्माको पवित्र करे उसे पुण्य कहते हैं।

पाप- जो आत्माको अच्छे काव्योंसे बचावे-दूर करे उसे पाप कहते हैं ॥३॥

स्वामीकी अपेक्षा आस्त्रवके भेद-

सक्षात्याक्षाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थ- वह योग क्षाय रहित जीवोंके साम्परायिक आस्त्रव और क्षाय रहित जीवोंके ईर्यापथ आस्त्रवका कारण है।

क्षाय- जो आत्माको कष्ट अर्थात् चारों गतियोंमें भटकाकर दुःख देवे उसे क्षाय कहते हैं। जैसे- क्रोध, मान, माया, लोभ।

साम्परायिक आस्त्रव- जिस आस्त्रवका मंसार ही प्रयोजन है उसे साम्परायिक आस्त्रव कहते हैं।

ईर्यापथ- स्थिति और अनुभाग रहित कर्मोंके आस्त्रवको ईर्यापथ आस्त्रव कहते हैं।

नोट- ईर्यापथ आस्त्रव ११ वें से १३ वें गुणस्थान तकके जीवोंके होता है, और उसके पहले गुणस्थानोंमें साम्परायिक आस्त्रव होता है। १४ वें गुणस्थानमें आस्त्रवका सर्वथा अभाव हो जाता है ॥ ४ ॥

साम्परायिक आश्रवके भेद-
इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया: पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशति
संख्या: पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थ- स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पांच अव्रत और सम्यक्त्व आदि पञ्चीस क्रियाएं, इस तरह साम्पत्तियक आश्रवके ३१ भेद हैं अर्थात् इन सब ३१ भेदोंके द्वारा साम्परायिक कर्मका आश्रव होता है।

पञ्चीस क्रियाएं-

- (१) सम्यक्त्वको बढ़ाने वाली क्रियाको सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं जैसे देव पूजन आदि।
- (२) मिथ्यात्वको बढ़ानेवाली क्रियाको मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं, जैसे कुदेवपूजन आदि।
- (३) शरीरादिसे गमनागमन रूप प्रवृत्ति करना सो प्रयोग क्रिया है।
- (४) संयमीका असंयमके समुद्भुत होना सो समादान क्रिया है।
- (५) गमनके लिए जो क्रिया होती है उसे ईर्ष्यापद्धति क्रिया कहते हैं।
- (६) क्रोधके वशसे जो क्रिया हो वह प्रादोषिकी क्रिया है।
- (७) दुष्टापूर्वक उद्यम करना सो कायकी क्रिया है।
- (८) हिंसाके उपकरण तलवार आदिका ग्रहण करना सो अधिकरण क्रिया है।
- (९) जीवोंको दुःख उत्पन्न करनेवाली क्रियाको पारिताषिकी क्रिया कहते हैं।

- (१०) आयु, इन्द्रिय आदि प्राणोंका वियोग करना सो प्राणातिपातिनी क्रिया है।
- (११) रागके वशीभूत होकर मनोहर रूप देखना सो दर्शन क्रिया है।
- (१२) रागके वशीभूत होकर वस्तुका स्पर्श करना स्पर्शन क्रिया है।
- (१३) विषयोंके नये २ कारण मिलना प्रात्ययिकी क्रिया है।
- (१४) स्त्री पुरुष अथवा पशुओंके बैठने तथा सोने आदिके स्थानमें मलमुत्रादि क्षेपण करना समन्तनुपात क्रिया है।
- (१५) बिना देखी बिना शोधी हुड़ भूमिपर उठना बैठना अनाभोग क्रिया है।
- (१६) लोभसे वशीभूत हो दूसरेके द्वारा करने योग्य क्रियाको स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है।
- (१७) पापकी उत्पत्ति करनेवा जी यजृतिको भला गमद्वारा दिसाई किया है।
- (१८) परके किये हुये पापोंको प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।
- (१९) चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे शास्त्रोक्त आवश्यकादि क्रियाओंके करनेमें असमर्थ होकर उनका अन्यथा निरुपण करना सो आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।
- (२०) प्रमाद अथवा अज्ञानके वशीभूत होकर आगमोक्त क्रियाओंमें अनादर करना अनाकाशा क्रिया है।
- (२१) छेदन भेदन आदि क्रियाओंमें स्वयं प्रवृत्त होना तथा अन्यको प्रवृत्त देखकर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।
- (२२) परिग्रहकी रक्षामें प्रवृत्त होना पारिग्रहिकी क्रिया है।
- (२३) ज्ञान दर्शन आदिमें कपटरूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है।

- (२४) प्रशंसा आदिसे किसीको मिथ्यात्व रूप परिणतिमें हड़ करना
मिथ्यादर्शन किया है।
- (२५) चारित्र मोहनीयके उदयसे त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होना अप्रत्याख्यान
किया है।

आस्त्रवकी विशेषतामें कारण-

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात भावाधिकरणबीर्य- विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थ- तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव,
अधिकरणविशेष और बीर्यविशेषसे आस्त्रवक्यमें विशेषता-हीनाधिकता
होती है।

तीव्रभाव- अत्यन्त बढ़े हुए, क्रोधादिके द्वारा जो तीव्ररूप भाव
होते हैं उनको तीव्रभाव कहते हैं।

मन्दभाव- कषायोंको मन्दतासे जो भाव होते हैं उन्हें मन्दभाव
कहते हैं।

ज्ञातभाव- यह प्राणी मारनेके योग्य है इस तरह जानकर प्रवृत्त
होनेको ज्ञातभाव कहते हैं।

अज्ञातभाव- प्रमाद अथवा अज्ञानसे प्रवृत्ति करनेको अज्ञातभाव
कहते हैं।

अधिकरण- जिसके आश्रय अर्थ रहे उसे अधिकरण कहते हैं।

बीर्य- द्रव्यकी स्वशक्तिविशेषको बीर्य कहते हैं।

अधिकरणके भेद-

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थ- अधिकरणके दो भेद हैं- १-जीव और २-अजीव। अर्थात्
आस्त्रव, जीव और अजीव दोनोंके आश्रय हैं ॥ ७ ॥

साम्प्रदायिक आख्यातके ३९ भेद

आख्यात

इच्छापथ

साम्प्रदायिक

इच्छापथ

कथाय

अव्रत

हिंसा

किंचा

भान

असत्य

मिथ्यात्व, प्रयोग, सपादन, इच्छापथ, प्रादेशिकी,

भाण

चौर्य

काधिकी, अधिकरण, घारितापिकी, प्राणतिपत्तिनी, दर्शन,

बख्त

लोभ

स्पर्शन, प्रात्ययिकी, समन्तानुपात, अनाधोग, स्वहस्त,

कर्म

परिग्रह

निसर्ग, विदारण, ओजाच्छापादिकी, अनाकांसा, प्रारम्भ,

कर्म

परिग्रहिकी, माया, मिथ्यादर्शन, अप्रत्याख्यातन।

परिग्रहिकी, माया, मिथ्यादर्शन, अप्रत्याख्यातन।

कर्म

परिग्रह

परिग्रहिकी, माया, मिथ्यादर्शन, अप्रत्याख्यातन।

कर्म

परिग्रह

परिग्रहिकी, माया, मिथ्यादर्शन, अप्रत्याख्यातन।

कर्म

परिग्रह

परिग्रहिकी, माया, मिथ्यादर्शन, अप्रत्याख्यातन।

जीवाधिकरणके भेद-

**आद्यं संरम्भसमारम्भयोगकृतकारितानु-
मतक षायविशेषैस्त्रिस्त्रिश्वतुश्वै कशः ॥ ८ ॥**

अर्थ- आदिका जीवाधिकरण आस्त्रब-संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन वचन कार्यरूप तीन योग कृत कारित अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायोंकी विशेषतासे १०८ भेदरूप हैं।

भावार्थ- सरम्भादे तीनोंमें सेतु योगोंका गुण करनेसे ९ भेद हुए। इन ९ भेदोंमें कृत आदि तीनका गुणा करनेपर २७ भेद हुए। और इन २७ भेदोंमें ४ कषायका गुणा करनेसे कुल १०८ भेद हुए।

संरम्भ- हिंसादि पापोंके करनेका मनमें निचार करना संरम्भ है।

समारम्भ- हिंसादि पापोंके कारणोंका अभ्यास करना समारम्भ है।

आरम्भ- हिंसादि पापोंके करनेका प्रारम्भ कर देना आरम्भ है।

कृत- स्वयं करना कृत है।

कारित- दूसरेसे कराना कारित है।

अनुमत- दूसरेके द्वारा किये हुए कार्यको भला समझना अनुमत है ॥ ८ ॥

अजीवाधिकरणके भेद-

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतर्द्वित्रिभेदाः

परम् ॥ ९ ॥

अर्थ- पर अर्थात् अजीवाधिकरण आस्त्रब-दो प्रकारकी निर्वर्तना, चार प्रकारका निक्षेप, दो प्रकारका संयोग और तीन प्रकारका निसर्ग, इस रह ११ भेदवाला है।

निर्वर्तना- रचना करनेको निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं-

१-मूलगुण निर्वर्तना और २-उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर, मन तथा श्वासोच्चवासकी रखना करना मूलगुण निर्वर्तना है। और काष्ठ, पिण्डी आदि से चिन्ह बर्गीरहकी रखना उत्तर गुण निर्वर्तना है।

रिक्षेप- वस्तुके अङ्गोंको निक्षेप करते हैं -इसके चार भेद हैं-१-अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, २-दृष्टप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, ३-सहसानिक्षेपाधिकरण और ४-अनाभोगनिक्षेपाधिकरण हैं। बिना देखे किस वस्तुको रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है। घनाचार रहित होकर रखनेको दृष्टप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं। शीघ्रतासे रखना सहसा निक्षेपाधिकरण है। और किसी वस्तुको योग्य स्थानमें न रखकर बिना देखे ही यहां जहां रख देना अनाभोग निक्षेपाधिकरण है।

संयोग- मिला देनेका नाम संयोग है। इसके दो भेद हैं-१-भक्तपान संयोग, २-उपकरण संयोग। आहार पानीको दूसरे आहार पानीमें मिलाना भक्तपान संयोग है। और कमण्डल आदि उपकरणोंको दूसरेकी पीछी आदिसे पोछना उपकरण संयोग है।

निसर्ग- प्रवर्तनको निसर्ग कहते हैं। इसके ३ भेद हैं। १-कायनिसर्ग अर्थात् कायको प्रवर्तना, २-वाङ्निसर्ग अर्थात् वचनोंको प्रवर्तना और मनोनिसर्ग अर्थात् मनको प्रवर्तनः ॥ ९ ॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आत्मव-

तत्प्रदोषनिह्वमात्सर्यान्तरायासादनोपधाता

ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

अर्थ- ज्ञान और दर्शनके विषयमें किये गये प्रदोष, निह्व, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपधात ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मके आत्मव हैं।

प्रदोष- किसी धर्मात्माके द्वारा की गई तत्वज्ञानकी प्रशंसाका नहीं सुहाना प्रदोष है।

निह्व- किसी कारणसे ज्ञानको छुपाना निह्व है।

मात्सर्य- वस्तु स्वरूपको जानकर यह भी पण्डित हो जावेगा ऐसा विचार कर किसीको नहीं पढ़ाना मात्सर्य है।

अन्तराय- किसीके ज्ञानाभ्यासमें विघ्न डालना अन्तराय है।

आसादन- दूसरेके द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञानको रोक देना आसादन है।

उपघात- सब्जे ज्ञानको दोष लगाना उपघात है ॥ १० ॥

असातावेदनीयके आस्त्रव

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्या त्मरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

अर्थ- (आत्मपरोभयस्थानि) निज तथा पर दोनोंके विषयमें स्थित (दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि) दुःख शोक ताप आक्रन्दन वध और परिदेवन वे (असद्वेद्यस्य) असातावेदनीयके आस्त्रव हैं।

दुःख- पीड़ारूप परिणामविशेषको दुःख कहते हैं।

शोक- अपना उपकार करनेवाला पदार्थका वियोग होने पर विकलता होना शोक है।

ताप- संसारमें अपनी निन्दा आदिके हो जानेसे पश्चात्ताप करना ताप है।

आक्रन्दन- पश्चात्तापसे अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है।

यद्यपि प्रतिमन्य आयु कर्मको छोड़कर शेष मात कर्मोंका बन्ध हुआ करता है : तथापि प्रदायादि भावोंके द्वारा जो ज्ञानावरणादि विशेष २ कर्मोंका बन्ध होना बताया है, वह मिथितबन्ध और अनुभाग बन्धकी अपेक्षा मात्रता चाहिये। अर्थात् उम मन्य प्रकृति और उद्देशबन्ध हो सक कर्मोंका हुआ करता है, किन्तु स्थिति और अनुभागबन्ध ज्ञानावरणादि विशेष २ कर्मोंका अधिक होता है।

वध- आयु आदि प्राणोंका वियोग करना वध है।

परिदेवन- संकलेश परिणामोंका अवलम्बन कर इस तरह रोना कि सुननेवालेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जावे सो परिदेवन है।

नोट- राहणि और आदि दुःखके ही भैर हैं तथापि दुःखकी जातियाँ बतलानेके लिये सबका ग्रहण किया है ॥ ११ ॥

सात वेदनीयका आस्त्रव-

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः

शौचमितिसद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

अर्थ- भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षांति और शौच तथा अहंदभक्ति आदि ये सातवेदनीयके आस्त्रव हैं। भूतव्रत्यनुकम्पा-भूत=संसारके समस्त प्राणी और व्रती=अणु व्रत या महाव्रतथारी जीवोंपर दया करना सो भूतव्रत्यनुकम्पा है।

दान- निज और परके उपकार योग्य वस्तुके देनेको दान कहते हैं।

सरागसंयमादि योग- पांच इन्द्रिय और मनके विषयोंसे विरक्त होने तथा छह कायके जीवोंको हिंसा न करनेको संयम कहते हैं, और राग सहित संयमको सरागसंयम कहते हैं।

नोट- यहाँ आदि शब्दसे संयमासंयम-(श्रावकके ज्ञत) अकाम निर्जरा-(बन्दीखाने आदिमें संकलेशतारहित भोगोपभोगके त्याग करना)-और बाल तप (मिथ्या दर्शनसहित तरस्या करना)-का भी ग्रहण होता है।

इन सबको अच्छी तरह धारण करना सरागसंयमादि योग कहलाता है।

क्षांति- क्रोधादि कषायके अभावको क्षांति कहते हैं।

शौच- लोभका त्याग करना शौच है।

नोट- इति शब्दसे अहंदभक्ति, मुनियोंकी वैयाकुन्ति आदिका ग्रहण करना चाहिये ॥ १२ ॥

दर्शनमोहनीयका आस्त्रव-
केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवा-
दोदर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

अर्थ केवली, श्रुत- (शास्त्र), संघ (मनि आर्यिका आवक
श्राविका) धर्म और देव इनका अवर्णवाद कहना दर्शनमोहनीय कर्म
आस्त्रव है ।

अवर्णवाद गुणवार्णको झूठे दोष लगाना सो अवर्णवाद है ।

केवलीका अवर्णवाद- केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं,
इत्यादि कहना सो केवलीका अवर्णवाद है ।

श्रुतका अवर्णवाद- शास्त्रमें मांस भक्षण करना आदि लिखा है,
ऐसा कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है ।

संघका अवर्णवाद- ये शुद्ध हैं, पलिन हैं, नग्न हैं इत्यादि कहना
सो संघका अवर्णवाद है ।

धर्मका अवर्णवाद- जिनेन्द्रभगवानके द्वारा कहे दुए धर्ममें कुछ
भी गुण नहीं हैं- उसके सेवन करनेवाले असूर हो जाएंगे इत्यादि कहना धर्मका
अवर्णवाद है ।

देवका अवर्णवाद- देव मदिगा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवोंकी
बलीसे प्रसन्न होते हैं, आदि कहना देवका अवर्णवाद हैं ॥ १३ ॥

चारित्र मोहनीयका आस्त्रव-
कषायोदयातीविपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

अर्थ- कषायके उदयसे होनेवाले तीव्र परिणाम आरित्रमोहनीयके
आस्त्रव हैं ॥ १४ ॥

नरक आयुका आस्त्रब-

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ- बहुत आरंभ और परिग्रहका होना नरक आयुका आस्त्रब है ॥ १५ ॥

तिर्यच आयुका आस्त्रब-

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थ- माया (छलकपट) तिर्यच आयुका आस्त्रब है ॥ १६ ॥

मनुष्य आयुका आस्त्रब-

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थ- थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रहका होना मनुष्य आयुका आस्त्रब है ॥ १७ ॥

स्वभावमार्दिवं च ॥ १८ ॥

अर्थ- स्वभावसे ही सरल परिणामी होना भी मनुष्य आयुका आस्त्रब है।

नोट- इस सूत्रको पृथक लिखनेका आशय यह है कि इस सूत्रमें बताई हुई बातें देवायुके आस्त्रबमें भी कारण हैं ॥ १८ ॥

सब आयुओंका आस्त्रब-

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

अर्थ- दिग्व्रतादि उ शील और अहिंसादि पाँच व्रतोंका अभाव भी समस्त आयुओंका आस्त्रब है।

नोट- शील और व्रतका अभाव कहते हुए जब कषायोंमें अत्यन्त तीव्रता और अत्यन्त मन्दता होती है तभी वे क्रमसे चारों आयुओंके आस्त्रबके कारण होते हैं ॥ १९ ॥

देव आयुका आस्त्रव-
सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि
दैवस्य ॥ २० ॥

अर्थ- सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तय ये देव आयुके आस्त्रव हैं । ॥ २० ॥

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थ- सम्यगदर्शन भी देव आयु कर्मका आस्त्रव है ।

नोट- १-इस सूत्रको पृथक लिखनेका प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्व अवस्थामें वैमानिक देवोंकी ही आयुका आस्त्रव होता है ।

नोट- २-यद्यपि सम्यगदर्शन किसी भी कर्मके बन्धमें कारण नहीं है तथापि सम्यगदर्शनकी अवस्थामें जो रागांश पाया जाता है उसीसे बन्ध होता है । इसी तरह सरागसंयम, संयमासंयम आदिके विषयमें भी जानना चाहिये । ॥२१ ॥ ३

अशुभ नामकर्मका आस्त्रव-
योगवक्रता विसम्बादनं चाशुभस्यनामः ॥२२ ॥

अर्थ- योगोंकी कुटिलता और विसम्बादन-अन्यथा प्रवृत्ति करना अशुभ नामकर्मका आस्त्रव है ॥ २२ ॥

शुभ नामकर्मका आस्त्रव-
तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

१. इन सबका शब्दार्थ पीछे १२वें सूत्रके शोटमें लिखा जा चुका है

२. येनांशेन मुहूष्टम्लेनांशेनाशन छन्धने नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाम्य ब्रह्मने भवति ॥ - अमृतचन्द्रसूरि

३. आयु कर्मका आस्त्रव सामान्यरूपमें जीवनके त्रिभागमें होता है । अथात् आयुके ती पाँच निकल आने पर तीसीय भागके प्रारंभमें होता है ।

अर्थ- योग वक्ता और विसंवाहनसे विपरीत अर्थात् योगोंकी सरलता और अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव ये शुभ नामकर्मके आस्त्रबहु हैं ॥२३॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारो-
ऽभीक्षणज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसी-
साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमहदाचार्यबहु श्रुत-
प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना-
प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ- १-दर्शनविशुद्धि-पञ्चीस दोषरहित निर्मल^१-सम्पर्दर्शन,
२-विनयसम्पन्नता-रत्नव्रद्य ३-या उनके धारणोंकी विवरण ४-५-
शीलव्रतेष्वनतिचार-अहिंसादि ब्रत और उनके रक्षक क्रोधत्याग आदि
शीलोंमें विशेष प्रवृत्ति, ४-५ अभीक्षणज्ञानोपयोगसंवेगौ-निरन्तर ज्ञानमय
उपयोग रखना और संसारसे भयभीत होना, ६-७-शक्तिस्त्याग तपसी-
यथाशक्ति दान देना और उपवासादि तप करना, ८-साधुसमाधि-
साधुओंके विष्ट आदिको दूर करना, ९-वैयावृत्यकरणम्-रोगी तथा
बालवृद्ध मुनियोंकी सेवा करना, १०-११-१२-१३-
अहंदाचार्यबहु श्रुतप्रवचनभक्ति अरहन्त भगवानकी भक्ति करना, दीक्षा
देने वाले आचार्योंकी भक्ति करना, उपाध्यायोंकी भक्ति करना, शास्त्रोंकी
भक्ति करना, १४-आवश्यकापरिहाणि-सामाजिक आदि छह आवश्यक
क्रियाओंमें हानि नहीं करना, १५-मार्गप्रभावना-जैनधर्मकी प्रभावना

1. वही दर्शनविशुद्धिसे तात्पर्य अपाद विचाय भगवंशजनके प्रध्यामिशन मनुष्यके जी
लोककल्याणकी मात्रिषाव भावना होती है उसमें है। मनुष्य शुभ राग हो नीर्थकर
प्रवृत्तिका आस्त्रबहु है।

करना और ६८-प्रवब्रतवत्सलत्वम्-गांवत्सकों तरह धर्मात्मा जीवोंसे संह रखना। ये मोलह भावनायें तीर्थकर प्रवृति नामक नामकर्मके आस्त्रब हैं ॥ २४॥

नोट- इन भावनाओंमें दर्शनविशुद्धि पुरुष भावना हैं। उसके अभावमें सबके अथवा यथासम्पव हीनाधिक होनेपर भी तीर्थकर प्रकृतिका आस्त्रब नहीं होता और उसके रहते हुए अन्य भावनाओंके अभावमें भी तीर्थकर प्रकृतिका आस्त्रब होता है ॥ २४॥

नीच गोत्रकर्मका आस्त्रब

**परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसदगुणोच्छादनोद्भावने
च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥**

अर्थ- (परात्मनिन्दाप्रशंसे) दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, (च) तथा (सदसदगुणोद्भवने) दूसरेके भीजूद गुणोंको छाँकना और अपने छूठे गुणोंको प्रकट करना, व' नीच गोत्रकर्मके आस्त्रब हैं ॥ २५ ॥

**उच्च गोत्रकर्मका आस्त्रब
तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेको चोत्तरस्य ॥ २६ ॥**

अर्थ- (तद्विपर्ययः) नीच गोत्रके आस्त्रबोंसे विपरीत अर्थात् प्रशंसा तथा आत्मनिन्दा (च) और (नीतवृत्यनुत्सेको) नम्र वृत्ति तथा मटका अभाव ये (उत्तरस्य) उच्च गोत्रकर्मके आस्त्रब हैं ॥ २६ ॥

अन्तराय कर्मका आस्त्रब-

विघ्नकरणमञ्जरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ- यरके दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यमें विघ्न करना, अन्तरायकर्म का आस्त्रब हैं ॥ २७ ॥

1. इम प्रकृतिके उदयन्ये समवसरणमें अश्व प्रतिहायं रूप विभूति प्राप्त होती है।

हीन श्रोपद्मास्त्रांगविरचिते पांसवा व्वेष्यं परमः ॥

प्रश्नावली

- [१] योग किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?
- [२] अजीवाभिकरण आस्त्रके भेद बताओ ।
- [३] जबकि आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों का बन्ध प्रति समय होता रहता है तब प्रदोषादि विशेष २ कर्मों के आस्त्र किस प्रकार हो सकेंगे ?
- [४] साम्पर्यिक और ईर्यापथ आस्त्रमें उदाहरण देकर भेद समझाओ ।
- [५] जबकि मध्यगदर्शन मोक्ष का मार्ग है तब उसे देख आयुका कारण क्यों लिखा ।
- [६] एक पिथ्याद्रष्टि जीव विनयसम्प्रता आदि पन्द्रह धावनाओं का पालन कर तीर्थकर प्रकृतिका आस्त्र कर सकता है या नहीं ? यदि नहीं तो क्यों ?
- [७] इस संसार में क्या कोई ऐसे भी जीव हैं जिनके किसी भी कर्म का आस्त्र नहीं होता हो ?
- [८] नीचे लिखे हुए शब्दों के लक्षण बताओ—
निहन, सरागसंयम, बाल नप, योगवक्रता, अनुत्सेक,
साधुसमाधि, अवर्णवाद, समारम्भ और ईर्यापथ आस्त्र ।

सप्तम अध्याय

शुभाक्ष्यवक्ता वर्णन-

ब्रतका लक्षण-

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्वतम् ।१ ।

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशोल और परिग्रह इन पांच पायोंसे भावपूर्वक विरक्त होना ब्रत कहलाता है ॥ १ ॥

ब्रतके भेद-

देशसर्वतोऽगुणमहती ॥ २ ॥

अर्थ- ब्रतके दो भेद हैं- १ अणुब्रत और २ महाब्रत । हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करनेसे अणुब्रत और सर्वदेश त्याग करनेसे महाब्रत हैं ॥ २ ॥

ब्रतोंकी स्थिरताके कारण-

तत्स्थैयार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

अर्थ- उन ब्रतों की स्थिरताके लिए प्रत्येक ब्रतकी पांच पांच भावनायें हैं ।

भावना - किसी वस्तु का बार-बार चिन्तवन करना सो भावना है ॥ ३ ॥

अहिंसा ब्रतकी पांच भावनाएँ-

वाङ्मनोगुमीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-

भोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥

अर्थ- वाग्गुसि-वचनको रोकना, मनोगुसि-मन की प्रबृत्तिको रोकना, ईर्यामिति-चार हाथ जमीन देखकर छलना, आदाननिक्षेपण समिति-भूमिको जीवरहित देखकर सावधानीसे किसी बस्तुको उठाना, रखना और आलोकितपान भोजन-देख शोधकर भोजनपान ग्रहण करना ये पांच अहिंसा व्रतकी भावनायें हैं ॥ ४ ॥

सत्यव्रतकी भावनाएँ-

**क्रोधलोभभीरूत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि-
भाषणं च पञ्च ॥५ ॥**

अर्थ- क्रोधप्रत्याख्यान-क्रोधका त्याग करना, लोभप्रत्याख्यान-लोभ का त्याग करना, भीरूत्वप्रत्याख्यान-भयका त्याग करना, हास्यप्रत्याख्यान-हास्यका त्याग करना और अनुवीचि भाषण-शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्देश वचन बोलना, ये पांच सत्य व्रत की भावनायें हैं ॥ ५ ॥

अचौर्यव्रतकी भावनाएँ-

**शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्य-
शुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥६ ॥**

अर्थ- शून्यागारावास-पर्वतोंकी गुफा, वृक्षकी कोटर आदिनिर्जन स्थानोंमें रहना, विमोचितावास-राजा वगैरहके द्वारा छुड़वाये हुए स्वामित्वहीन स्थानमें निवास करना, परोपरोधाकरण-अपने स्थान पर रहे हुए दूसरोंको नहीं रोकना, भैक्ष्यशुद्धि-चरणानुयोग शास्त्रके अनुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना और सधर्माविसंवाद-सहधर्मी भाइयोंसे यह हमारा है, वह आपका है इन्यादि कलह नहीं करना, ये पांच अचौर्य व्रतकी भावनायें हैं ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ-

**स्त्रीरागकथाश्रवणतमनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानु-
स्मरणवृष्ट्येष्टुरसस्वशरीरसंस्कारत्यागः पञ्च ।७।**

अर्थ- स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग- इति व्रतोदये तम यज्ञ नेवा गी कलाभौं
के सुननेका त्याग करना, तमनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग- मित्रों के मनोहर
अङ्गोंके देखनेका त्याग करना, पूर्वरतानुस्मरणत्याग- अव्रत अवस्थामें भोगे
हुए विषयोंके स्मरणका त्याग करना वृष्ट्येष्टुरस त्याग- कामवर्धक गरिष्ठ
रसोंका त्याग करना और स्वशरीरसंस्कारत्याग- अपने शरीरके संस्कारोंका
त्याग करना, ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनायें हैं ॥७॥

परिग्रहत्याग व्रतकी भावनाएँ-

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानिपञ्च ।८।

अर्थ - स्वर्ण आदि पांचों इन्द्रियोंके इष्ट अनिष्ट आदि
विषयोंमें क्रमसे रागद्वेषका त्याग करना, ये पांच परिग्रह त्याग व्रतकी
भावनायें हैं ॥८॥

हिंसादि पांच पापोंके विषयमें करनेयोग्य विचार-

हिंसादिष्वहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अर्थ- (हिंसादिषु) हिंसादि पांच पापों के होने पर (इह)
इस लोक में तथा (अमुत्र) परलोकमें (अपायावद्यदर्शनम्) सांसारिक
और पारमार्थिक प्रयोजनोंका नाश तथा निन्दाको देखना पड़ता है ऐसा
विचार करे।

भावार्थ- हिंसादि पाप करनेसे इसलोक तथा परलोकमें अनेक आपत्तियां प्राप्त होती हैं और निंदा भी होती है, इसलिये इनको छोड़ना ही अच्छा है ॥ ९ ॥

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ- अथवा हिंसादि पाँच पाप दुःखरूप ही हैं ऐसा विचार करे।

नोट- यहाँ कार्यमें कारणका उपचार समझना चाहिये, क्योंकि हिंसादि दुःखके कारण हैं, पर यहाँ उन्हे कार्य अर्थात् दुःखरूप वर्णन किया है ॥ १० ॥

निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएः-

मैत्रीप्रमोदकारूण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकं क्लिश्यमानाऽविनयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ- (च) और (सत्त्वगुणाधिकं क्लिश्यमानाऽविनयेषु) सत्त्व, गुणाधिक ^१, क्लिश्यमान ^२ और अविनय ^३ जीवों में क्ल मसे (मैत्रीप्रमोदकारूण्यमाध्यस्थ्यानि) मैत्री प्रमोद कारूण्य और माध्यस्थ्य भावना भावे ।

मैत्री - दूसरोंको दुःख न हो ऐसे अभिप्रायको मैत्री भावना कहते हैं ।

प्रमोद - अधिक गुणोंके धारी जीवोंको देखकर सुख प्रसन्नता आदिसे प्रकट होनेवाली अन्तरङ्गकी भक्तिको प्रमोद कहते हैं ।

कारूण्य - दुःखी जीवोंको देखकर उनके उपकार करनेके भावोंको कारूण्यभाव कहते हैं ।

1. प्राणीमात्र, 2. जो गुणों से अधिक हो, 3. दुःखी, 4. रोगी बर्गरह, मिथ्यादृष्टि उदण्डप्रकृतिके धारक ।

माध्यस्थ्य- जो जीव तत्वार्थश्रद्धानसे रहित हैं तथा हितका उपदेश देनेसे उलटे चिह्नते हैं उभमें राग द्वेषका अभाव होना सो माध्यस्थ्य भावना है ॥११॥

संसार और शरीरके स्वभावका विचार-

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

अर्थ- संवेग(संसारके भय)और वैराग्य(रागद्वेषके अभाव)के लिये क्रमसे संसार और शरीरके स्वभावका विज्ञान करे ॥१२॥

हिंसा पापका लक्षण-

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणो हिंसा ॥१३॥

अर्थ- प्रमादके^२ योगसे यथासंभव द्रव्य^३ प्राण या भाव^४ प्राणोंका वियोग करना सो हिंसा है।

नोट १- जिस समय कोई बत्ती जीव ईर्यासमितिसे गमन कर रहा हो, उस समय कोई भूद्र जीव अचानक उसके पैरके नीचे आकर दब जावे तो वह बत्ती उस हिंसा पापका भागी नहीं होगा क्योंकि उसके प्रमाद नहीं हैं।

१. पंत्रीभाव जगतमें पेरा, सब जीवों भं निल्व रहे ।

दीन दृख्यो ज्ञानोपर गें, उरमो करुणा स्तोत वहे ॥

दर्जन कुर कुणां र्खींपर, कोभ नहीं मुद्दको आवे ।

याप्यधान रकड़ में उनपर, ऐसी परिणति हो, जावे ॥

गुणी जनोंको देख इदयमें, भेरे प्रेम उमड़ आवे ॥

जुगल्लकिशोर मुख्ता

२. गैन इन्द्रिय, चार कलाय, चार निकाय (स्वी० राज० राष्ट्र० और ध॒०३०)

उप हृष्य और निंदा वे १५ प्रगाढ़ हैं ।

३. एंच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और शाश्वेत्त्वाय वे १० द्रव्य प्राण हैं ।

४. इन दर्शनको भाव प्राण कहते हैं ।

नोट २- एक जीव किसी जीवको मारना चाहता था पर मीठा न मिलनेसे मारन सका तो भी वह हिंसाका भागी होगा क्योंकि वह प्रमाद सहित है और अपने भाव प्राणोंकी हिंसा करनेवाला है ॥ १३ ॥

असत्यका लक्षण-

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ- प्रमादके योगसे जीवोंको दुखदायक का मिथ्यारूप बचन बोलना सो असत्य है ॥ १४ ॥

स्तेय-चोरीका लक्षण-

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

अर्थ- प्रमादके योगसे बिना दी हुई किसीकी वस्तुको ग्रहण करना चोरी है ॥ १५ ॥

कुशीलका लक्षण-

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थ- मैथुनम् को अब्रह्म अर्थात् कुशील कहते हैं।

मैथुन- चरित्रमोहनीय कर्मके उदयसे राग परिणाम सहित स्त्री पुरुषोंके परस्पर स्पर्श करनेकी इच्छाको मैथुन कहते हैं ॥ १६ ॥

परिग्रह पापका लक्षण-

मूच्छं परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थ- मूच्छको परिग्रह कहते हैं।

मूच्छ- बाह्य धन, धान्यादि तथा अन्तरंग क्रोधादि कषायोंमें 'ये मेरे हैं' ऐसा भाव रहना सो मूच्छ है ॥ १७ ॥

ब्रतों की विशेषता-

निःशल्यो ब्रती ॥ १८ ॥

अर्थ- शल्यरहित जीव ही ब्रती है।

शल्य- जो आत्माको कांटेही ताह दुख हे उसे शल्य भावते हैं। उसके नीन भेद है। १-मायाशल्य (छल कपट करना) २-मिथ्याल्पशल्य (तत्वोंका श्रद्धान न होना) और ३-निदान शल्य (आगामी कालमें विषयोंकी वांछा करना)।

जब तक इनमें से एक भी शल्य रहती है तब तक जीव ब्रती नहीं हो सकता।

ब्रतोंके भेद-

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थ- अगारी (गृहस्थ) और अनगार (गृहत्वागी मुनि) इस प्रकार ब्रतीके दो भेद हैं।

अगारीका लक्षण-

अणुब्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अर्थ- अणु अर्थात् एकदेश ब्रत पालनेवाला जीव अगारी कहलाता है।

अणुब्रतके पांच भेद हैं-१- अहिंसाणुब्रत, २-सत्याणुब्रत, ३-अचौर्याणुब्रत, ४-ब्रह्मचर्याणुब्रत, ५-परिग्रहपरिमाणाणुब्रत।

अहिंसाणुब्रत- संकल्पपूर्वक त्रस जीवोंको हिंसका परित्याग करना सो अहिंसाणुब्रत है।

१. महाब्रतोंको पालनेवाले मुनि अनगार कहलाते हैं। इस अध्यायमें अणुब्रतधारियोंके ही विशेष चारित्रका वर्णन है।

सत्याणुव्रत- राग, द्वेष, भय आदिके बश हो स्थूल असत्य बोलनेका त्याग करना सत्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत-स्थूल चोरीके त्यागको अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत-परस्तों संजनका त्याग करना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रह- परिमाणाणुव्रत-आवश्यकतासे अधिक परिग्रहका त्यागकर शेषका परिमाण करना सो परिग्रह-परिमाणाणुव्रत है ॥ २० ॥

अणुव्रतके सहायक सात शीलव्रत-

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च

अर्थ- वह व्रती दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतोंसे तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथि, संविभागव्रत इन चार शिक्षाव्रतोंसे सहित होता है। अर्थात् व्रती श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत^१ और चार शिक्षाव्रत^२ इस प्रकार बारहव्रतोंका धारा होता है।

तीन गुणव्रत

१- दिग्व्रत-प्ररणपर्यंत सूक्ष्म पापोंकी निवृत्तिके लिए दशों दिशाओंमें आनेजानेका परिमाण कर उससे बाहर नहीं जाना सो दिग्व्रत है।

२- देशव्रत-जीवनपर्यंतके लिये किये हुये दिग्व्रतमें और भी संकोच करके घड़ी घटा दिन महिना आदि तक किसी गृह मुहूर्में आदि तक आना जाना रखना सो देशव्रत है।^३

1. अणुव्रतोंका उपकार करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं। 2. जिनसे मुनिव्रत पालन करनेकी शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। 3. दिग्व्रत और देशव्रतमें समवकी पर्याटकी अपेक्षा अन्तर होता है।

३- अनर्थ दण्डन्वत्-प्रयोजन रहीत पापवर्धक क्रियाओंका त्याग करना सो अनर्थ दण्डन्वत् है। इसके पांच भेद हैं - १-पापोपदेश(हिंसा आरम्भ आदि पापके कर्मोंका उपदेश देना) २-हिंसादान (तलबार आदि हिंसाके उपकरण देना), ३-अपथ्यान (दूसरेका बूरा विचारना), ४-दुःश्रुति (रागद्वेषको चढ़ानेवाले खोटे शास्त्रोंका सुनाना) और ५-प्रमादन्वर्या (बिना आयोजन यहाँ वहाँ धूमना तथा पुश्टी आदिको खोएगा ।)

चार शिक्षान्वत्

१- सामायिक-मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे पांचों पापोंका त्याग करना सो सामायिक है।

२- प्रोष्ठधोपवास-पहले और आगे के दिनोंमें एकाशनके साथ अष्टमी और चतुर्दशीके दिन उपवास आदि करना प्रोष्ठधोपवास है।

३- उपभोगपरिभोगपरिमाणन्वत्-भोग । और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण कर उससे अधिकमें ममत्व नहीं करना सो भोगउपभोगपरिमाणन्वत् है।

४- अतिथि संविभागन्वत्-अतिथि अर्थात् मुनियोंके लिए आहार कमड़लु पीछी वसतिका आदिका दान देना सो अतिथि संभाविभागन्वत् है।

ब्रतीको सल्लेखना धारण करनेका उपदेश-

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थ- गृहस्थ, मरणके समय होनेवाली सल्लेखनाको प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

सल्लेखना- इसलोक अर्थवा परलोक सम्बन्धी किसी प्रयोजनकी अपेक्षा न करके शरीर और कषायके क्रश करनेकी सल्लेखना कहते हैं ॥ २२ ॥

1. जो एकबार भोगनेमें आवे, 2. जो चारबार भोगनेमें आवे

आवाकके बारह द्रव्य

| | देशबद्धत | गुणबद्धत | शिफ्टःज्ञत | १. सामाजिक | २. प्रोप्रधोःशास | ३. भोगोपचाग परिकाणा | ४. अतिथि विवाह | ५. एकार्थदण्डक्षत | ६. देशबद्धत | ७. अहिंसाणुबद्धत | ८. सत्याणुबद्धत | ९. अचौयाणुबद्धत | १०. ब्रह्मचर्याणुबद्धत | ११. परिश्रहपरिमाणाणुबद्धत | |
|-----|---------------|-----------|------------|------------|------------------|---------------------|----------------|-------------------|-------------|------------------|-----------------|-----------------|------------------------|---------------------------|--|
| १. | अणुबद्धत | | | | | | | | | | | | | | |
| २. | अहिंसाणुबद्धत | | | | | | | | | | | | | | |
| ३. | | गुणबद्धत | | | | | | | | | | | | | |
| ४. | | १. दिव्यत | | | | | | | | | | | | | |
| ५. | | | शिफ्टःज्ञत | | | | | | | | | | | | |
| ६. | | | | १. सामाजिक | | | | | | | | | | | |
| ७. | | | | | २. प्रोप्रधोःशास | | | | | | | | | | |
| ८. | | | | | | ३. भोगोपचाग परिकाणा | | | | | | | | | |
| ९. | | | | | | | ४. अतिथि विवाह | | | | | | | | |
| १०. | | | | | | | | ५. एकार्थदण्डक्षत | | | | | | | |
| ११. | | | | | | | | | ६. देशबद्धत | | | | | | |
| | | | | | | | | | | ७. अहिंसाणुबद्धत | | | | | |
| | | | | | | | | | | | ८. सत्याणुबद्धत | | | | |
| | | | | | | | | | | | | ९. अचौयाणुबद्धत | | | |
| | | | | | | | | | | | | | १०. ब्रह्मचर्याणुबद्धत | | |
| | | | | | | | | | | | | | | ११. परिश्रहपरिमाणाणुबद्धत | |

सम्यगदर्शनिके ' पांच अतिचार '

शङ्कांकाक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा: सम्यगदृष्टेरतिचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ- १-शङ्का (जिनेन्द्र भगवानके द्वाग कहे हुए सूक्ष्म पदार्थोंमें सन्देह करना अथवा सप्तमय^१ करना) कांक्ष (सांसारिक मुखोंकी इच्छा करना), विचिकित्सा दुखी दरिद्री जीवोंको अथवा गतब्रह्यसे यवित्रपर जाह्यमें मलिनमुनियोंके शरीरको देखकर ग्लानि करना), अन्यदृष्टिप्रशंसा (मनसे मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान आदिको अच्छा समझना) और अन्यदृष्टिसंस्तव (वचनसे मिथ्यादृष्टियोंका इंग्रस करना) ये पांच सम्यगदर्शन के अतिचार हैं ॥ २३ ॥

५ व्रत और ७ शीलोंके अतिचारोंकी संख्या-

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थ- पांच व्रत और सात शीलोंमें भी क्रमसे पांच पांच अतिचार होते हैं, जिनका वर्णन आगे के सूत्रोंमें है ॥ २४ ॥

अहिंसाणुव्रतके पांच अतिचार-

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५ ॥

अर्थ- बन्ध (इच्छित स्थानमें जानेसे रोकनेके लिये रसी आदिसे बांधना), वध (कोड़ा बेत आदिसे मारना), छेद (नाक, कान आदि अङ्गोंका छेदना), अतिभारारोपण (शक्तिसे अधिक भार लादना) और अन्नपाननिरोध (समयपर खाना पीना नहीं देना) ये पांच अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं ॥ २५ ॥

१. जिसका निर्दीष सम्यगदर्शन हो वही व्रत घाल सकता है, इसलिये पहिले सम्यगदर्शनके पांच अतिचार कहते हैं।

२. व्रतके एक देश भज्ज होनेको अतिचार कहते हैं।

३. इमलोकभय, परलोकभय, मरणभय, बेदना, आरुप्तिभय और आकृत्यकभय ये सात भय हैं।

सत्याणुव्रतके अतिचार-
मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासा-
पहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

अर्थ- मिथ्योपदेश [झूठा उपदेश देना], रहोभ्याख्यान [स्त्री पुरुषकी एकान्तकी बातको प्रकट करना], कूटलेखक्रिया [झूठे दस्तावेज आदि लिखना], न्यासापहार [किसीकी धरोहरका अपहरण करना] और साकारमन्त्रभेद [हाथ चलाने आदिके द्वारा दूसरे के अभिग्राहको जानकर उसे प्रकाशित कर देना] ये पांच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ २६ ॥

अचौर्याणुव्रतके पांच अतिचार-
स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमही-
नाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थ- स्तेनप्रयोग-[चोरको, चोरोके लिए प्रेरणा करना व उसके उपाय बताना], तदाहृतादान [चोरके द्वारा चुराई हुई वस्तुको खरीदना], विरुद्धराज्यातिक्रम [राजा की आज्ञाके विरुद्ध चलना, टाउनहूटी, टैक्स बगौरह नहीं देना], 'हीनाधिकमानोन्मान [देने लेनेके बाँट तराजू बगौरहको कमती बढ़ती रखना] और प्रतिरूपक व्यवहार [बहुमूल्य वस्तुमें, अल्प मूल्यकी वस्तु मिलाकर असली भावसे बेचना], ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ २७ ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पांच अतिचार-
परविवाहकरणोत्वरिकापरिगृहीतापरिगृही-
तागमनानङ्गकीडाकामतीब्राभिनिवेशाः ॥२८ ॥

1. अथवा राज्यमें विलोन होनेपर अधिक मूल्यकी वस्तुको अल्प मूल्यमें खरीदना और अल्प मूल्यकी वस्तुको अधिक मूल्यमें बेचना ।

अर्थ- पराविवाहकरण [अपने संरक्षणासे रहित दूसरोंके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना करना], परिगृहीतेत्वरिकागमन [पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियोंके यास आना जाना, लेनदेन रखना, रागभावपूर्वक बातचीत करना], अपरिगृहीतेत्वरिकागमन [पतिसहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियोंके यहाँ आना जाना लेनदेन आदिका व्यवहार रखना], अनङ्गकीड़ा [कामसेवनके लिये निश्चित अङ्गोंको छोड़कर अन्य अङ्गोंसे काम सेवन करना] और कामतीव्राभिनिवेश [कामसेवन की अत्यन्त अभिलाषा रखना], ये पांच ब्रह्मवर्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ २८ ॥

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके अतिचार-

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य-
प्रमाणातिक्रमः ॥ २९ ॥

अर्थ- क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम [खेततथा रहनेके घरोंके प्रमाणका उल्लंघन करना], हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम [चांदी और सोनेके प्रमाणका उल्लंघन करना], धनधान्यप्रमाणातिक्रम [गाय भेंस आदि पशु तथा गेहूँ चना आदि अनाजके प्रमाणका उल्लंघन करना], दासीदासप्रमाणातिक्रम [नीकर-नीकरानियोंके प्रमाणका उल्लंघन करना] और कुप्यप्रमाणातिक्रम [वस्त्र तथा बर्तन आदिके प्रमाणका उल्लंघन करना] ये पांच परिग्रहपरिमाणुव्रतके अतिचार हैं ।

दिव्यव्रतके अतिचार-

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि

अर्थ- ऊर्ध्वाधव्यतिक्रम [प्रमाणसे अधिक ऊँचाई वाले पर्वतादि परा चढ़ना], अधोव्यतिक्रम [प्रमाणसे अधिक नीचाईवाले कुए आदिमें उताना], तिर्यग्व्यतिक्रम [समान स्थानमें प्रमाणसे अधिक लम्बे जाना], क्षेत्रवृद्धि [प्रमाण किये हुए क्षेत्रको बढ़ा लेना] और स्मृत्यन्तराधान [किये हुए प्रमाणको भूल जाना], ये पांच दिव्यव्रतके अतिचार हैं ॥ ३० ॥

देशब्रतके अतिचार-

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दस्वपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१ ॥

अर्थ- आनयन [मर्यादासे बाहरकी चीजेको बुलाना], प्रेष्यप्रयोग [मर्यादाके बाहर नीकर आदिको भेजना], शब्दानुपात [खासी आदिके शब्दके द्वारा मर्यादासे बाहरबाले आदमियोंको अपना अभिप्राय समझा देना], स्वपानुपात [मर्यादासे बाहर रहनेबाले आदमियोंको अपना शरीर दिखाकर इशारा करना] और पुद्गलक्षेप [मर्यादासे बाहर कंकर पथर फेंकना], ये पांच देशब्रतके अतिचार हैं ॥ ३१ ॥

अनर्थदण्डब्रतके अतिचार-

**कन्दर्पकौत्कुच्यमौख्यासमीक्ष्याधि-
करणोपभोगपरिभोगानर्थव्याप्तिः ॥ ३२ ॥**

अर्थ- कन्दर्प (रागसे हास्य सहित अशिष्ट वज्रन बोलना), कौत्कुच्य (शरीरके कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वज्रन बोलना), मौख्य (घृष्णतापूर्वक आवश्यकतासे अधिक बोलना), असमीक्ष्याधिकरण (विना प्रयोजन, मन वज्रन कायकी अधिक प्रवृत्ति करना) और उपभोगपरिभोगानर्थक्य (भोग उपभोगके पदार्थोंका आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना), ये पाँच अनर्थदण्डब्रतके अतिचार हैं ॥ ३२ ॥

सामाधिक शिक्षाके अतिचार-

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थ- मनोयोग दुष्प्रणिधान (मनकी अन्यथा प्रवृत्ति करना), बारे योगदुष्प्रणिधान (बवनकी अन्यथा प्रवृत्ति करना), कार्ययोगदुष्प्रणिधान (शरीरकी अन्यथा प्रवृत्ति करना), अनादर (उत्साह रहित होकर सामाधिक करना) और स्मृत्यनुपस्थान (एकाग्रताके अभावमें

सामायिक पाठ वगैरहका भूल जाना), ये याँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ३३ ॥

प्रोष्ठपौऽवास शिराः प्रत्येकं अतिचार-

अप्रत्यवैक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरो- पक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थ- अप्रत्यवैक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग (बिना देखी बिना शोधी हुई जमीनमें मलमूत्रादिका क्षेपण करना), अप्रत्यवैक्षिताप्रमार्जितादान (बिना देखे बिना शोधे हुए पूजन आदिके उपकरण उठाना), अप्रत्यवैक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण (बिना देखे बिना शोधे हुए वस्त्र चटाई आदिको बिछाना), अनादर (भूखसे व्याकुल होकर आवश्यक धर्मकार्योंको उत्साहरहित होकर करना) और स्मृत्यनुपस्थान (करनेयोग्य आवश्यक कार्योंको भूल जाना), ये याँच प्रोष्ठधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ३४ ॥

भोग उपभोग परिमाणके अतिचार-

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपववाहारः । ३५ ।

अर्थ- सचित्ताहार (जीव सहित-हरे फल आदिका भक्षण करना), सचित्तसम्बन्धाहार सचित पदार्थसे सम्बन्ध को प्राप्त हुई चीजका आहार करना), सचित्तसम्मिश्राहार (सचित पदार्थसे मिले हुए पदार्थका आहार करना), अभिषाहार (गरिष्ठ पदार्थका आहार करना), और दुःपववाहार (अध्यपके अथवा अधिक पके हुए पदार्थका आहार करना, ये याँच भोग उपभोग परिमाणव्रतके अतिचार हैं ॥ ३५ ॥

अतिथिसंचिभागद्रवत्तके अतिचार-

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्य- कालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

अर्थ- सचित्तनिक्षेप (सचित्त पत्र आदिमें भोजनको रखकर देना,) सचित्तपिधान (सचित्त पत्र आदिसे ढके हुए भोजनादिका दान करना), परब्यपदेश (दूसरे दातारकी बस्तुको देना), मात्सर्य (अनादरपूर्वक देना अथवा दूसरे दातारसे ईर्ष्या करके देना), और कालातिक्रम (योग्य कालका उल्लंघन कर अकालमें देना), ये पाँच अतिथिसंविभाग ब्रतके अतिकार हैं ॥ ३६ ॥

सल्लेखनाके अतिकार-

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि

अर्थ- जीविताशंसा (सल्लेखना धारण कर जीनेकी इच्छा करना), मरणाशंसा (वेदनासे व्याकुल होकर शोष्य मरनेकी वाञ्छा करना), मित्रानुराग (मित्रोंका स्मरण करना), सुखानुबंध (पूर्वकालमें भोगे हुए सुखोंका स्मरण करना) और निदान (आगमी कालमें विषयोंकी इच्छा करना), ये पाँच सल्लेखना ब्रतके अतिकार हैं ॥ ३७ ॥

नोट- ऊपर कहे हुए ७० अतिकारों का त्यागी ही निर्दोष ब्रती कहलाता है।

दानका लक्षण-

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ- (अनुग्रहार्थम्) अपने और परके उपकारके लिए (स्वस्य) धनादिका (अतिसर्गः) त्याग करना (दानम्) दान हैं।

नोट- दान देनेमें अपना उपकार तो यह है कि पुण्यका बन्ध होता है और परका उपकार यह है कि दान लेनेवालेके सप्तग्रन्थान आदि गुणोंकी वृद्धि होती है।

दानमें विशेषता-

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अतिचार प्रदर्शन

ब्रह्म

सम्यग्दर्शन

अतिचार

शङ्का, आकाशा, विचिकित्सा, अन्यदीष्टप्रसंगा, अन्यदीष्टस्वात् ।

५. अणुवत्

कथम्, वय, छेद, अतिक्षारोपणा, अन्यानन्मीरेय ।

भियोपदेश, रहोप्यात्मान, कृतलेखकिया, न्यासापहा, साक्षात्कर्मजभेद ।

लेनप्रयोग, तदाहुतादान, विरुद्धसाम्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान, प्रतिरूपकन्यवहार ।
परिविवाहक्राण, परिहीतेवारीकागमन, अस्तेरप्रतिलिपिकागमन, अनहुक्ताङ्गा,
कापतोवाभिनिवेश ।

क्षेत्रवासप्रमाणातिक्रम, हिण्यसुखणप्रमाणातेक्रम, धनध्यानप्रमाणातिक्रम,
दासीदासप्रमाणातिक्रम, कृप्यप्रमाणातिक्रम ।

६. गुणवत्

दिवदर्श

अस्थेव्यतिक्रम, तिर्यक्यतिक्रम, शेत्रवाच्च, सूत्वात्मगाधान ।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुदगलहेष ।

कन्दप, कौलक्रम, मौख्य, अस्पीड्याधिकरण, उपभोगप्रिभोगानवर्त्यम् ।

७. शिक्षावृत

सामाधिक

मनोयोगाद्युप्यणिधान, काययोगाद्युप्यणिधान, वागयोगाद्युप्यणिधान, अनादर, सूत्यनुप्रस्थान ।

अप्रत्यवेक्षितप्रमाणितोत्सर्वा, अप्रत्यवेक्षिताद्याजितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमाणितसंस्तोषकमण,
अनादर, सूत्यनुप्रस्थान ।

सचिवताहार, सचिवत सम्प्रशाहार, सचिवत संगिमशाहार, अभिषाहार, दुःप्रवन्धाहार ।

सचिवन निषेष, सचिवताप्रिधान, परव्यप्रदेश, मातसर्व, कालातिक्रम ।

जीवितार्थस, सरणाशंसा, मित्रानुशास, सुखानुबन्ध, निदान ।

५. सत्त्वेऽङ्गन

अर्थ- विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेषसे उस दानमें विशेषता होती है।

विधिविशेषता- नवधार्भकिंके क्रमको विधिविशेष कहते हैं।

द्रव्यविशेष- तप स्वाध्याय आदिको बृद्धिमें कारण अहरको द्रव्यविशेष कहते हैं।

दातृविशेष- श्रद्धा आदि समगुण सहित दातारको दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेष- सम्यकचरित्र आदि गुणसहित मुनि आदिको पात्रविशेष कहते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भास्त्रामित्रिचिं गांशशास्त्रे यस्पाऽध्यायः ॥

प्रश्नावली

- (१) बनी किसे कहते हैं ?
- (२) अचौर्य ब्रतकी पांच भावनाओंको समझाओ ।
- (३) मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका क्या स्वरूप है ?
- (४) इर्धासमितिसे चलनेवाला भनुष्य अकस्मात् किसी जीवके पर जानेपर पापका भागी होगा या नहीं ?
- (५) मूर्च्छाकी क्या परिभाषा है ?
- (६) सम्यगदर्शनके अतिचार बतलाकर सलेखनाका स्वरूप समझाओ ।
- (७) नीचेलिखेहुये शब्दोंके अर्थ बतलाओ - साकार मन्त्रभेद विपोचितावास, कुप्य, ऊर्ध्व व्यतिक्रम, सचितसंभिश्राहार और शत्य ।
- (८) सक्षेपमें श्रावकोंके बतोंका वर्णन करो ।
- (९) दिग्वन्त और देशवत्तमें क्या अन्तर है ?
- (१०) किस किस गतिमें ब्रत धारण किये जा सकते हैं ।

अष्टम अध्याय

बन्धतत्वका वर्णन

बन्धके कारण-

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः १

अर्थ- मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच कर्मबन्धके कारण हैं।

मिथ्यादर्शन- अतल्वाँके श्रद्धानको अर्थवा तत्वोंका श्रद्धान न होनेको मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके दो भेद हैं - १- गृहीत मिथ्यादर्शन और २- अगृहीत मिथ्यादर्शन।

गृहीत मिथ्यादर्शन- परोपदेशके निमिज्जसे जो अतत्व श्रद्धान हों, उमे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अगृहीत मिथ्यादर्शन- परोपदेशके बिना ही केवल मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो हो, उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

मिथ्यादर्शनके ५ भेद और भी हैं - १-एकांत, २-विपरीत, ३-संशय, ४-वैनयिक और ५-अज्ञान।

एकांत मिथ्यादर्शन- अनेक धर्मात्मक वस्तुयें यह इसी प्रकार हैं, इस तरहके एकांत अभिप्रायको एकांत मिथ्यादर्शन कहते हैं। जैसे बौद्ध भृतवाले वस्तुको अनित्य ही मानते हैं और वेदांती सर्वथा नित्य ही मानते हैं ॥ अन्त-धर्म, गुण ॥

विपरीत मिथ्यादर्शन- परिग्रह सहित भी गुरु हो सकता है, केवली केवलाहार करते हैं, स्त्रीको भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इत्यादि उल्टे श्रद्धानको विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

संशय मिथ्यादर्शन- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र ये मोक्षके मार्ग हैं अथवा नहीं, इस प्रकारसे चलायमान श्रद्धानको संशय मिथ्यादर्शन कहते हैं।

बैनयिक मिथ्यादर्शन- सब प्रकारके देवोंको तथा सब प्रकारके मतोंको समान मानना बैनयिक मिथ्यादर्शन है।

अज्ञान मिथ्यादर्शन- हिताहितकी परीक्षा न करके श्रद्धान करना अज्ञान मिथ्यात्मा है।

अविरति- छह¹ कायके जीवोंकी हिंसाके त्याग न करने और ५ इन्द्रिय तथा मनके विषयोंमें प्रवृत्ति करनेको अविरति कहते हैं। इसके बारह भेद हैं-पृथ्वीकायिकाविरति, जलकायिकाविरति इत्यादि।

बन्धके हेतु मुख्य रूपसे ४ हैं-मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग। परन्तु यहां गुणस्थानोंका क्रम ध्यानमें रखते हुए कषायको दो भागोंमें बांटा गया है-प्रमाद और कषाय। इसलिये यहां बन्धके पांच हेतु बतलाये हैं।

प्रमाद- ५ समिति, ३ गुणि, ८ शुद्धि² १० धर्म इत्यादि अच्छे कायोंमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति न करनेको प्रमाद कहते हैं।³

इसके १५ भेद हैं।

कषाय- इसके २५ भेद हैं।

योग- इसके १५ भेद हैं-४ यनोयोग, ४ बचनयोग और ७ कायदोग।

नोट- ये मिथ्यादर्शन आदि, सम्पूर्ण तथा पृथक् पृथक् बन्धके कारण हैं। अर्थात्-किसीके पांचों ही बन्धके कारण हैं, किसीके अविरति

1. पांच स्थावर और त्रम ये छह कायके जीव हैं।

2. १-भावशुद्धि, २-कायशुद्धि, ३-विनयशुद्धि, ४-इयांपथशुद्धि, ५-धैशशुद्धि, ६-प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७-शब्दनामनशुद्धि, ८-लाक्ष्यशुद्धि।

3. प्रमाद और कषायमें स्मान्य शिशेषका अन्तर है।

आख्यव ५७ के भेद। अख्यव

२५

१२

१५=५७ योग

| भिष्यतश्वन | | अविरति | प्रमाद | कथय | नोकथय |
|-----------------------|-------------------------|--------------------------|----------------|------------------|---------------|
| १ एकान्त | इन्द्रियाविरति | प्राणहिसादिग्विरति | अनंता. | आपल्या. प्रस्या. | संचलन. १ हस्य |
| २ विषरीत | | | | | २ रति |
| ३ सेयम | १ स्पर्शनेन्द्रियाविरति | १ पृथिवीकायिक हिसाविरति | १ क्रोध | १ क्रोध | ३ अरुति |
| ४ वैनायिक | २ रसनेन्द्रियाविरति | २ जलकायिक हिसाविरति | २ मान | २ मान | ४ शोक |
| ५ अङ्गान | ३ धारणेन्द्रियाविरति | ३ अग्निकायिक हिसाविरति | ३ माया | ३ माया | ५ भय |
| | ४ चक्षुरेन्द्रियाविरति | ४ वायुकायिक हिसाविरति | ४ लोभ | ४ लोभ | ६ उग्रमा |
| | ५ कर्णेन्द्रियाविरति | ५ वर्षयतिकायिक हिसाविरति | ५ लीकेति | ५ लीकेति | ७ लीकेति |
| | ६ पर्नेन्द्रियरति | ६ ऋसकायिक हिसाविरति | ६ पुरेत | ६ पुरेत | ८ नायुं वेट |
| काययोग | | वचनयोग | मनोयोग | | |
| १ औदारिक काययोग | ५ आहारक काययोग | १ सत्य वचनयोग | १ सत्य मनोयोग | | |
| २ औदारिक मिश्रकाययोग | ६ आहारक मिश्रकाययोग | २ असत्य वचनयोग | २ असत्य पनोयोग | | |
| ३ वैकियिक काययोग | ७ कार्मण काययोग | ३ उभय वचनयोग | ३ उभय पनोयोग | | |
| ४ वैकियिक मिश्रकाययोग | | ४ अनुभय वचनयोग | ४ अनुभय पनोयोग | | |

आदि ४, किसीके प्रमाद आदि ३, किसीके कषाय आदि २ और किसीके सिर्फ एक योग ही बन्धका कारण है ॥ १ ॥

बन्धका लक्षण-

**सकषायत्वाजीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते
स बन्धः ॥ २ ॥**

अर्थ- (जीवः) जीव (सकषायत्वात्) कषाय सहित होनेसे (कर्मणः) कर्मके (योग्यान्) योग्य (पुद्गलान्) कार्मण वर्गणारूप पुद्गल परमाणुओंको जो [आदत्ते] ग्रहण करता है [सः] वह [बन्धः] है ।

भावार्थ- सम्पूर्ण लोकमें कार्मण वर्गणारूप पुद्गल भरे हुए हैं । कषायके निमित्तसे उनका आत्माके माथ सम्बन्ध हो जाता है यही बन्ध कहलाता है ।

नोट- इस सूत्रमें 'कर्मयोग्यान्' ऐसा समास न करके जो अलग अलग ग्रहण किया है उससे सूत्रका यह अर्थ भी निकलता है कि- "जीव कर्मसे सकषाय होता है और सकषाय होनेसे कर्म-रूप पुद्गलोंको ग्रहण करता है, यही बन्ध कहलाता है" ॥ २ ॥

बन्धके भेद-

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥३ ॥

अर्थ- प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बन्धके चार भेद हैं ।

प्रकृतिबन्ध- कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिबन्ध कहते हैं ।

स्थितिबन्ध- ज्ञानावरणादि कर्मोंका अपने स्वभावसे च्युत नहीं होना सो स्थितिबन्ध है ।

अनुभागबन्ध- ज्ञानावरणादि कर्मोंके रसविशेषको अनुभागबन्ध कहते हैं ।

प्रदेशबन्ध- ज्ञानावरणादि कर्मरूप होनेवाले पृथगत स्कन्धोंके परमाणुओंकी संख्याको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

नोट इन चार प्रकारके बन्धोंमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध योगके निमित्तमें होते हैं तथा स्थिति और अनुभागबन्ध क्रष्णायके निमित्तसे होते हैं ॥ ३ ॥

प्रकृतिबन्धका वर्णन-प्रकृतिबन्धके मूल भेद-
आद्योज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नाम

गोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

अर्थ- यहला प्रकृतिबन्ध-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसे आठ प्रकारका हैं।

ज्ञानावरण- जो आत्माके ज्ञानगुणोंको धारे उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण- जो आत्माके दर्शनगुणको धारे उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय- जिसके उदयसे जीव अपने स्वरूपको भूलकर अन्यको अपना समझने लगे उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु- जो इस जीवको नरक, तिर्यक्ष, मनुष्य और देवोंमें से किसी शरीर में शोक रखे उसे आयुकर्म कहते हैं।

नाम- जिसके उदयसे शरीर आदिकी रचना हो उसे नाम कर्म कहते हैं।

गोत्र- जिसके उदयसे यह जीव ऊंच नीच कुलमें पैदा होवे उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

अन्तराय- जिसके उदयसे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमें विघ्न आवे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

नोट उक्त आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, प्रोहनीय और अन्तगाय ये चार कर्म घातिया [जीवके 'अनुजीवी गुणोंके घातनेवाले] हैं और बाकीके चार कर्म अघातिया [प्रतिजीवी ' गुणोंके घातनेवाले] हैं ।

प्रकृतिबन्धके उत्तर भेद-
पञ्चनवद्वयष्टिविशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपञ्चभेदा
यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

अर्थ- ऊपर कहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म क्रमसे ५, ९, २, २८, ४, ४२, २ और ५ भेदवाले हैं ॥ ५ ॥

ज्ञानावरणके पांच भेद-
मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ- मतिज्ञानावरण [मतिज्ञान को ढाँकनेवाला], श्रुतज्ञानावरण [श्रुतज्ञानको ढाँकनेवाला], अवधिज्ञानावरण [अवधिज्ञानको ढाँकनेवाला], मनःपर्यय ज्ञानावरण [मनःपर्यय ज्ञानको ढाँकनेवाला] और केवलज्ञानावरण (केवलज्ञानको ढाँकनेवाला) ये पांच ज्ञानावरणके भेद हैं ।

दर्शनावरण कर्मके ९ भेद-
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानानिद्रानिद्रानिद्रा-
प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

1. गदधाव रूप गुण । 2. अपाव रूप गुण । 3. जिम्ब प्रकार एक ही बार खाया हुआ भोजन रम, खुन आदि नाना रूप हों जाना है उसी तरह एकबार ग्रहण किया हुआ क्रांतज्ञानावरणादि अनेक भिन्नरूप हो जाता है । विशेषता यह है कि भोजन रम, खुन आदि रूप क्रांत क्रममें होता है, परन्तु कम ज्ञानावरणादि रूप एकमात्र हो जाता है ।

अर्थ- चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रबला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृहि ये भी दर्शनावरण कर्मके भेद हैं।

चक्षुदर्शनावरण- जो कर्म चक्षु इन्द्रियोंसे होनेवाले सामान्य अवलोकनको न होने दे उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण- जिस कर्मके उदयसे चक्षु इन्द्रियको छोड़कर शेष इन्द्रियों तथा मनसे पदार्थका सामान्य अवलोकन न हो सके उसे अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरण- जो कर्म अवधिज्ञानसे पहले होनेवाले सामान्य अवलोकनको न होने दे उसे अवधि दर्शनावरण कहते हैं।

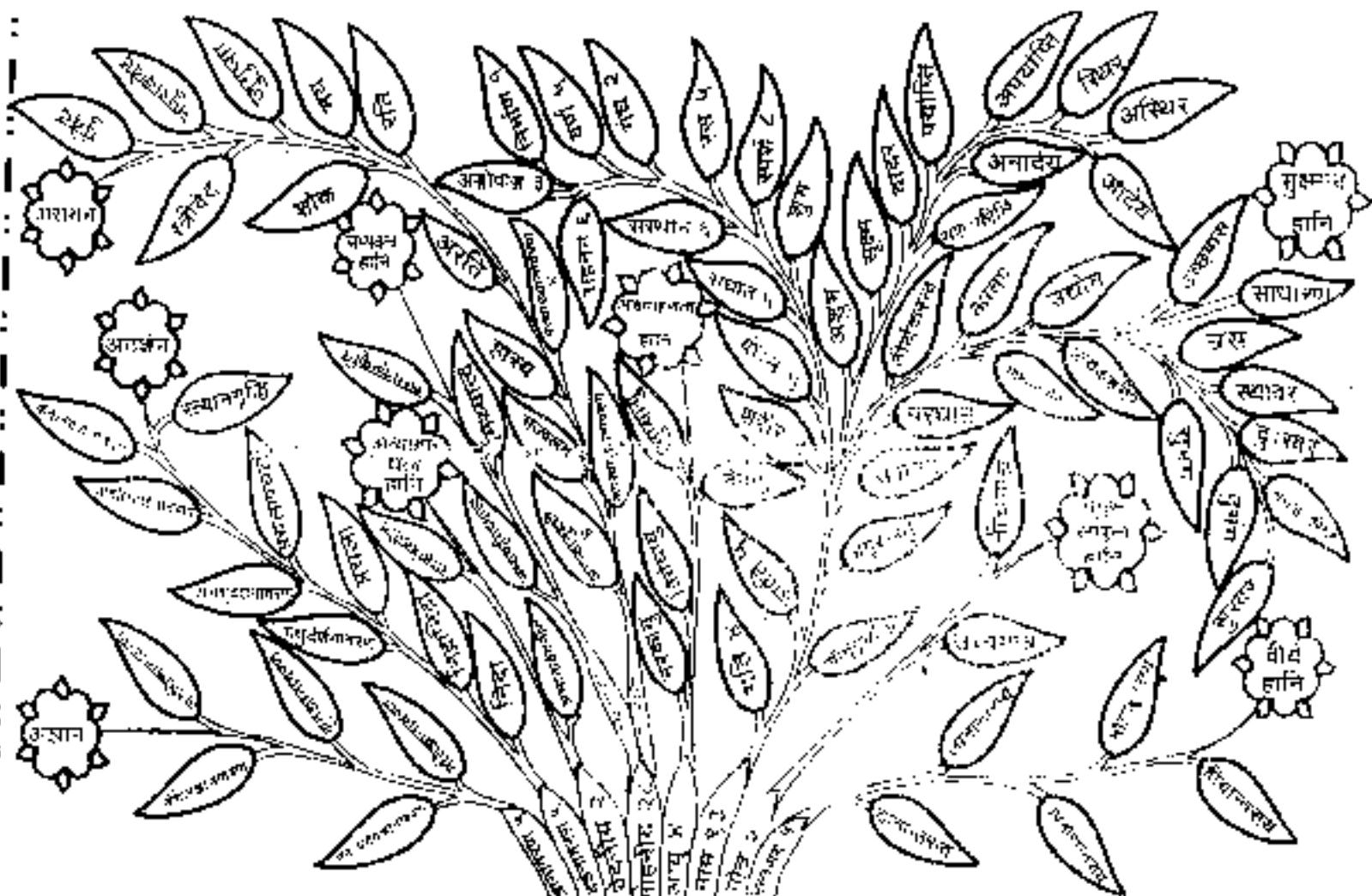
केवलदर्शनावरण- जो कर्म केवलज्ञानके¹ साथ होनेवाले सामान्य अवलोकनको न होने दे उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं।

निद्रा- मद, खेद, श्रम आदिको दूर करनेके लिए जो शयन करते हैं वह निद्रा जिस कर्मके उदयसे हो वह कर्म निद्रा दर्शनावरण है।

निद्रानिद्रा- नीदके बाद फिर फिर नीद आनेको निद्रानिद्रा कहते हैं। निद्रानिद्राके वशीभूत होकर जीव अपनी आंखोंको नहीं खोल सकता।

प्रबला- बैठे २ नेत्र, शरीर आदिमें विकार करनेवाली, शोक तथा थकावट आदिसे उत्पन्न हुई नीद प्रबला कहलाती है। प्रबलाके वशीभूत हुआ जीव सोता हुआ भी जागता रहता है।

1. छदायथ जीवोंके दर्शन और ज्ञान क्रममें होते हैं अथात् पहले दर्शन बादमें ज्ञान। परंतु केवली प्राणीनके दोनों एकसाथ होते हैं, क्योंकि उनके ज्ञानक कर्मका एकसाथ क्षय होता है।



कर्मवृक्ष :-

मूल प्रकृति ८
उत्तर प्रकृति १४८

दिग्गज्वर जैन पुस्तकालय, सूरत
फोन :- (0261) 427621

गोकुल शास्त्र (तत्त्वार्थ मूल)

प्रचलाप्रचला- प्रचलाके ऊपर प्रचलाके आनेको प्रचलाप्रचला प्रकृति कहते हैं। प्रचलाप्रचलाके द्वारा शब्दन अवस्थामें मुहसे लार बहने लगती है तथा अंगोपांग चलमें लगते हैं।

स्त्यानगृद्धि- जिस निष्ठाके द्वारा सोनी अवस्थामें भी नाना तरहके भयकर कार्य कर डाले और जागने पर कुछ मालूम ही नहीं हो कि मैंने क्या किया है उसको स्त्यानगृद्धि कहते हैं ॥ ७ ॥

वेदनीयके दो भेद-

सदसद्देहो ॥ ८ ॥

अर्थ- सद्देह और असद्देह ये दो वेदनीय कर्मके भेद हैं।

सद्देह- जिसके उदयसे देव आदि गतियोंमें शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त हो उसे सद्देह कहते हैं।

असद्देह- जिसके उदयसे नरकादि गतियोंमें तरह-तरहके दुःख प्राप्त हो उसे असद्देह कहते हैं ॥ ८ ॥

मोहनीयके २८ भेद-

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्या-
स्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्य-
कषायकषायौहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंन-
पुंसकवेदाः अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-
संज्वलनविकल्पाश्रैकशः क्रोधमानमायालोभः ।

अर्थ- दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय, कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीय कर्म क्रमसे तीन, दो, नौ और सोलह भेदरूप हैं। जिनमें से सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व ये । यह पाँच तरहकी निंदा जिस कर्मके उदयसे होती है वह निंदा दर्शनवरण आदि कार्यभेद कहलात है।

तीन दर्शनमोहनीय कर्मके भेद हैं। अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्ता, स्त्री वेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये १ अकषाय वेदनीयके भेद हैं और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्ञलन इन चार भेदस्वरूप क्रोध, मान माया लोभ ये सोलह भेद कषाय वेदनीयके हैं।

भावार्थ- मोहनीय कर्मके मुख्यमें दो भेद हैं- १ दर्शनमोहनीय १ और २ चारित्रमोहनीय २ उनमें दर्शनमोहनीयके तीन और चारित्र मोहनीयके २५ इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्मके २८ भेद हैं।

मिथ्यात्म प्रकृति- जिस कर्मके द्वारा सर्वज्ञ-कथित पार्गसे परांगमुख्यता हो अर्थात् मिथ्यादर्शन हो उसे मिथ्यात्म प्रकृति कहते हैं।

सम्यक्त्व प्रकृति- जिस प्रकृतिके उदयसे आत्माके सम्यग्दर्शनमें दोष उत्पन्न हो उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं।

सम्यग्मिथ्यात्म प्रकृति- जिस प्रकृतिके उदयसे मिले हुए दही गुड़के स्वादकी तरह उभयरूप परिणाम हो उसे सम्यग्मिथ्यात्म प्रकृति कहते हैं।

हास्य- जिसके उदयसे हँसी आवे वह हास्य नोकषाय है।

रति- जिसके उदयसे विषयोंमें प्रेम हो वह रति है।

अरति- जिसके उदयसे विषयोंमें प्रेम न हो वह अरति है।

शोक- जिसके उदयसे शोक चिता हो वह शोक है।

भय- जिसके उदयसे डर लगे वह भय है।

जुगुप्ता- जिसके उदयसे गतानि हो वह जुगुप्ता है।

स्त्रीवेद- जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेके भाव हो वह स्त्रीवेद है।

1. आत्माके सम्यक्त्व गुणको घलते। 2. जो आत्माके चारित्रगुणको घलते।

3. सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यक्त्वमिथ्यात्म प्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता किन्तु आत्माके शुभ परिणामोंमें मिथ्यात्म प्रकृतिको अनुभाग रखता हीन हो जाते रमने उन २ प्रकृतिमध्य परिणाम हो जाता है।

पुंवेद - जिसके उदयसे स्त्रीके साथ रमनेके भाव हो वह पुंवेद है।

नपुंसक वेद - जिसके उदयसे स्त्री पुरुष दोनोंसे रमनेकी इच्छा हो वह नपुंसकवेद है।^१

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ-जो आत्माके सम्प्रगदर्शन गुणको प्रकट न होने दे उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ कहते हैं।

अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहने हैं उसके साथ ही इसका अनुबन्ध (सम्बन्ध) रहता है इसलिये इसको अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ - जिसके उदयसे देशचारित्र न हो सके उसे^२ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ - जो प्रत्याख्यान अर्थात् सकलचारित्रको घाते उसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ कहते हैं।

संच्वलनक्रोधमानमायालोभ - जिसके उदयसे^३ यथाख्यात चारित्र न हो सके उसे संच्वलन क्रोध मान माया लोभ कहते हैं। यह कषायसम अर्थात् संयमके साथ च्वलित-जागृत रही आती है, इसलिये इसका नाम संच्वलन है।^४

नोट - इन कषायोंमें आगे आगे मन्दता है और नीचे २ तीव्रता है।

आयुकर्मके भेद-

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

१. हस्त प्राणि २. कपाय क्रोधादिकका तरह आत्माके गुणोंका पूरा घात नहीं कर पातीं इमलीय इन्हें नोकपाय (कीचलु कपाय) कहते हैं। २. अ = अल्प एत्याख्यान - चारित्रका आवरण करनेवाला। ३. जो चारित्रणोहनीयके उपराम अर्थात् क्षुद्रमें होता है उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

४. गायनदेवग्यनवर्त्तिनश्चक्रादवरणपरिणामः।

वर्त्तिन च कपाय च गम्भै अग्नेवलं गमिता ॥ २८३ गीतकाण्ड

अर्थ- नरकायु, तिर्यगायु, मानुषायु और देवायु ये चार आयुकर्मके भेद हैं।

नरकायु जिस कर्मके उदयमें जीव जागकीके शरीरमें रुका रहे नरकायु कहते हैं। इसी तरह सब भेदोंसे समझना चाहिये ॥ १० ॥

नाम कर्मके भेद -

३ १ ५ ३ ६ २ ५ ६ ८

गतिजातिशरीराङ्गेपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थान-
 संहननस्पर्शरसगन्धबणानुपुर्व्यागुरुलधूपधातपर-
 घातातपोद्योतोछ्वासविहायोगतयःप्रत्येकशरीरत्र-
 ससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्यासिस्थिरादेययशः
 कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ- गति, जाति, शरीर, अङ्गोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, बण, आनुपुर्व्य, अगुरुलधू, उपधात, परधात, आतय, उद्योत, उछ्वास और विहायोगति। ये इक्कीस तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्यासि, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनके उल्टे साधारण, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, स्थूल, अपर्यासि, अस्थिर, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये दश और तीर्थकरत्व इस प्रकार सब मिलकर नामकर्मके ४२ भेद हैं।

१-गति- जिसके उदयसे जीव दूसरे भवको प्राप्त करता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं १-नरकगति, २-तिर्यगगति, ३-मनुष्यगति और ४-देवगति। जिसके उदयसे आत्माको नरकगति प्राप्त होते उसे नरकगति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदोंका लक्षण जानना चाहिये।

१. गति उर्गादिके अवानर भेद जोड़नेमें १३ भेद होते हैं।

२-जाति- जिस कर्मके उदयसे जीव नरकादी गतियोंमें अव्यभिचारकप समानतासे एकरूपताको प्राप्त होवे वह जाति नाम कर्म है। इसके पाँच भेद हैं- १-एकेन्द्रिय जाति, २-द्वीन्द्रिय जाति, ३-तीन्द्रिय जाति, ४-चातुर्विन्द्रिय जाति और ५-पञ्चेन्द्रिय जाति। जिसके उदयसे जीव एकेन्द्रिय जातिमें पैदा हो उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदोंका लक्षण जानना चाहिये।

३-शरीर- जिस कर्म उदयसे शरीरकी रचना हो उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- १-औदारिक शरीर नामकर्म, २-वैकियिक शरीर नामकर्म, ३-आहारक शरीर नामकर्म, ४-तैजस शरीर नामकर्म और ५-कार्यण शरीर नामकर्म। जिसके उदयसे औदारिक शरीरकी रचना हो उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदोंके लक्षण जानना चाहिए।

४ अङ्गोपाङ्ग- जिसके उदयसे अङ्ग-उपाङ्गोंकी रचना हो उसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसके भेद हैं- १-औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, २-वैकियिक शरीराङ्गोपाङ्ग और ३-आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग। जिसके उदयसे औदारिक शरीरके अङ्ग और उपाङ्गोंकी रचना हो उसे औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इस प्रकार शेष दो भेदोंके लक्षण समझना चाहिये।¹

५-निर्माण- जिस कर्मके उदयसे अंगोपाँगोंका यथास्थान और यथाप्रमाण हो उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

६-बन्धन नामकर्म- शरीर नामकर्मके उदयसे ग्रहण किये हुए पुदगल स्कन्धोंका परस्पर सम्बन्ध जिस कर्मके उदयसे होता है उसे बन्धन

1.दो हाथ, दो पाँच, नितम्ब, पीठ, ब्रह्मस्थल और मस्तक ये ८ अंग हैं तथा अंगुलि आदि उपांग हैं। 'जलथा बहय तहा णियाब एड़ो उरा य सीसो य। अहं च दु अंगाङ तहे मैमा उवंगाड ॥' कांकोड।

नामकर्म कहते हैं इसके पाँच भेद हैं- १. औदारिक बन्धन नामकर्म, २. वैक्रियिक बन्धन नामकर्म, ३-आहारक बन्धन नामकर्म, ४-तैजस बन्धन नामकर्म, और ५-कार्यण बन्धन नामकर्म। जिसके उदयसे औदारिक शर्गरके धर्माण्य दोबालभैं लगे हुए इट तीर गारको तरह छिद्र लीहत परम्पर भज्बन्धको प्राप्त हो वह औदारिक बन्धन नामकर्म है। इसी प्रकार अन्य भेदोंका लक्षण जानना चाहिए।

६-संघात नामकर्म- जिस कर्मके उदयसे औदारिक आदि शर्गरोके प्रदेशोंका छिद्रहित बन्धन तो उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- औदारिक, संघात आदि।

७-संस्थान नामकर्म- जिस कर्मके उदयसे शरीरका संस्थान अश्रान् आकार बने उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं १ समचतुरस्त्रसंस्थान नामकर्म, २ व्यग्राध-परिमण्डलसंस्थान, ३ स्वानिसंस्थान, ४ कुञ्जकसंस्थान, ५ वापनसंस्थान और ६ हृष्टकसंस्थान।

जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर ऊपर नीचे तथा बीचमें समान भागरूप अश्रान् मुडोल हो उसे समचतुरस्त्रसंस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयमें जीवका शरीर चटवृक्षकी तरह माभिसे नीचे पतला और ऊपर मोटा हो उसे व्यग्राधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीर सर्पको बापीकी तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा हो उसे स्वानिसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिस कर्ममें उदयसे जीवका शरीर कुबड़ा हो उसे कुञ्जकसंस्थान नामकर्म कहते हैं और जिस कर्मके उदयसे बौना शरीर हो उसे वापनसंस्थान नामकर्म कहते हैं और जिस कर्मके उदयसे शरीरके अङ्गोंपांग किसी खास आकृतिके न हों उसे हृष्टकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

८-संहनन नामकर्म- जिस कर्मके उदयसे हड्डियोंके बंधनमें विशेषता हो उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं- १-वज्रवृषभनाराच संहनन, २-वज्रनाराच संहनन, ३-नाराच संहनन,

४-अर्द्धनाराच संहनन, ५-कीलक संहनन और ६-असंप्राप्तसृपाटिका संहनन।

जिस कर्मके उदयसे वृपभ (वेष्टन), नाराच (कील) और संहनन (हड्डियां बचकी ही हों उसे चबनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं ॥ १ ॥ जिस कर्मके उदयसे बचके हाड़ और बचकी कीलियां हों परन्तु वेष्टन बचके न हों उसे बचनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं ॥ २ ॥ जिसके उदयसे मामान्य वेष्टन और कीली सहित हाड़ हों उसे नाराच संहनन नामकर्म कहते हैं ॥ ३ ॥ जिसके उदयसे हाड़हड़ियोंको संधियां अर्थकीलित हों उसे अर्धनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं ॥ ४ ॥ जिसके उदयसे हड्डियां परस्पर कीलित हों उसे कीलक संहनन नामकर्म कहते हैं ॥ ५ ॥ और जिसके उदयसे जूटी जूटी हड्डियां नमोंसे बंधी हड़ी हों, परस्परमें कीलित नहीं हो उसे असंप्राप्तसृपाटिका संहनन नामकर्म कहते हैं ॥ ६ ॥

१०-स्पर्श- जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्श हो उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं । इसके आठ भेद हैं- १-कोपल, २-कठोर, ३-गुरु, ४-लघु, ५-शीत, ६-कृष्ण, ७-स्नान्ध और ८-रुक्ष ।

११-रस- जिसके उदयमें शरीरमें रस हो वह रस नामकर्म कहलाता है । इसके ५ भेद हैं- तिक्ल (चरपरा), सट (कद्दुआ), कघाय (कघायला), आगल (खड्डा) और पधुर (मीठा) ।

१२-गन्ध- जिसके उदयमें शरीरमें गन्ध हो उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं । इसके दो भेद हैं- १-सुगन्ध, २-दुर्गन्ध ।

१३-बर्ण- जिसके उदयसे शरीरमें बर्ण अर्थात् रूप हो वह बर्ण नामकर्म कहते हैं । इसके पांच भेद हैं- १-शुक्ल, २-कृष्ण, ३-नील, ४-रक्त, और ५-पीत ।

१४-आनुपूर्व्य- जिसके कर्मके उदयसे विश्व गतिमें भरणसे पहलेके शरीरके आकार आत्माके प्रदेश रहते हैं उसे आनुपूर्व्य नामकर्म

कहते हैं। इनके चार भेद हैं - १ नरक गत्यानुपूर्वी, २ तिर्यगत्यानुपूर्वी, ३ मनुष्यगत्यानुपूर्वी और ४ टेवगत्यानुपूर्वी।

जिस ममय आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यच आयुको पूर्णकर पूर्व शरीरमें पृथक ही नरकभूतके दर्ता जानेवाले रात्मुख होता है उस ममय पूर्व शरीरके आकार आत्माके प्रदेश जिस कर्मके उदयसे होते हैं उसे नरकगत्यानुपूर्वी कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदोंके लक्षण जानना चाहिये।

१५-अग्रुलधू-नामकर्म- जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर लोहेके गोलेकी तरह भारी और आकारके तूलकी तरह हल्का न हो वह अग्रुलधू नामकर्म है।

१६-उपधात- जिस कर्मके उदयसे अपने अंगोंसे अपना धात हो उसे उपधात नामकर्म कहते हैं।

१७-परधात- जिसके उदयसे दूसरेका धात करनेवाले अंगोंपांग हो उसे परधात नामकर्म कहते हैं।

१८-आतप- जिस कर्मके उदयसे आतापरूप शरीर हो उसे आतप नामकर्म कहते हैं।

१९-उद्योत- जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर हो उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।

२०-उच्छवास- जिसके उदयसे शरीरमें उच्छवास हो उसे उच्छवास नामकर्म कहते हैं।

२१-विहायोगति- जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं - १-प्रशास्त विहायोगति और २ अप्रशास्त विहायोगति।

२२-प्रत्येक शरीर- जिस नामकर्मके उदयसे एक शरीरका एक

१. उसका उदय मयक विग्रहमें विश्व वाद्य पाण्डित पूर्वोक्तव्यक जीवोंके होता है।
२. उसका उदय चन्द्रमाके विग्रहमें विश्व पूर्वोक्तव्यक शीर्णकि तथा शुश्रीण (जून) भौत जीवोंके होता है।

ही जीव स्वामी हों उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं।

२३-साधारण शरीर- जिसके उदयसे एक शरीरके अनेक जीव स्वामी हों उसे साधारण शरीर नामकर्म कहते हैं।^१

२४-ब्रह्म नामकर्म- जिसके उदयसे द्वीन्द्रियादिक जीवोंमें जन्म हो उसे ब्रह्म नामकर्म कहते हैं।

२५-स्थावर नामकर्म- जिस कर्मके उदयसे एकेन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

२६-सुभग नामकर्म- जिसके उदयसे दूसरे जीवोंको अपनेसे प्रीति उत्पन्न हो उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

२७-दुर्भग नामकर्म- जिस कर्मके उदयसे रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी दूसरे जीवोंकों अप्रीति उत्पन्न हो उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

२८-सुस्वर- जिसके उदयसे उज्जम स्वर (आवाज)हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

२९-दुःस्वर- जिसके उदयसे खराब स्वर हो उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

३०-शुभ- जिसके उदयसे शरीरके अवयव सुन्दर हों उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

३१-अशुभ- जिसके उदयसे शरीरके अवयव देखनेमें मनोहर न हों उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

३२-सूक्ष्म- जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जो न किसीको रोक सकता हो और न किसीसे रोका जा सकता हो उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते हैं।

३३-बादर (स्थूल)- जिस कर्मके उदयसे दूसरेको रोकनेवाला तथा दूसरेसे रोकनेवाला स्थूल शरीर प्राप्त हो उसे बादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

१. इनका उदय निर्गाहिया वनमर्पितवायिक जीवोंकी होता है।

३४-पर्याप्ति नामकर्म- जिसके उदयसे अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण हों उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।^१

३५-अपर्याप्ति नामकर्म- जिस कर्मके उदयसे जीवके एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।^२

३६-स्थिर- जिस कर्मके उदयसे शरीरको धातुएँ (रस, रूधिर, मांस, भेद, हाइ, मज्जा और शुक्र) तथा उप धातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिक्ष, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने अपने स्थानमें स्थिरताको प्राप्त हों उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं।

३७-अस्थिर- जिसके उदयसे पूर्वोक्त धातु उपधातुएँ अपने अपने स्थानमें स्थिर न रहें उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

३८-आदेय- जिसके उदयसे प्रभासहित शरीर हो उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

३९-अनादेय- जिसके उदयसे प्रभासहित शरीर हो उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

1. अहरवाणा भाषाकाणा और मनोलगणाके परागानुओंको शरीर इन्द्रियादि स्वप्न परिगत करनेवाली शक्तिकी पृष्ठाको पर्याप्ति कहते हैं। उनके छह भेद हैं- १. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. शारीरच्छुबाय पर्याप्ति, ५. शासा पर्याप्ति और ६. गन; पर्याप्ति। उनमें से इकान्द्रिय जीवके भाण और मनके ध्यान ४ अस्तित्व पर्याप्ति के मनके ध्यान ५ और मनो जीवके ६ पर्याप्तियाँ होती हैं। जिस जीवनसे शरीर पर्याप्ति नहीं हो जाती है वह पर्याप्तक कहा जाता है।
2. जिस जीवकी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उसे अपर्याप्तक कहते हैं। अपापकक्ष की भेद हैं, १. निवृत्यपर्याप्तक और २. लब्धपर्याप्तक, जिस जीवकी शरीर पर्याप्ति अर्थात् तुली हो न हुई हो किन्तु उनमें तुली होने वाली हो उसे निवृत्यपर्याप्तक कहते हैं। जिस जीवकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हुई हो और न होनेवाली हो उसे लब्धपर्याप्तक कहते हैं।

४०-यशः कीर्ति- जिसके उदयसे संसार में जीवकी प्रशंसा हो उसे यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

४१-अयशः कीर्ति- जिसके उदयसे जीवकी संसारमें निन्दा हो उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

४२-तीर्थकरत्व- अरहन्तपदके कारणभूत कर्मको तीर्थकरत्व नामकर्म कहते हैं।

गोत्रकर्मके भेद-

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ- उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो भेद गोत्रकर्मके हैं।

१-उच्च गोत्र- जिसके उदयसे लोकमान्य कुलमें जन्म हो उसे उच्च गोत्रकर्म कहते हैं ॥ १२ ॥

२-नीच गोत्र- जिस कर्मके उदयसे लोकनिन्य कुलमें जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं ॥ १२ ॥

अन्तरायकर्म के भेद-

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

अर्थ- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये अन्तरायकर्म के ५ भेद हैं। जिसके उदयसे जीव, दानकी इच्छा रखता हुआ भी दान न कर सके उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं। इस प्रकार अन्य भेदोंके भी लक्षण समझना चाहिए ॥ १३ ॥

स्थितिबन्धका वर्णन-

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति
आदितस्तिसुणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम
कोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ- आदिके तीन-(ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय) और अन्तगाय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है।

नोट- मिथ्यावृष्टि संज्ञी घनेद्रिय पर्याप्तका जीवके ही इस उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध होता है ॥ १४ ॥

**मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति-
सप्ततिमर्तीयस्य ॥ १५ ॥**

अर्थ- मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सज्जर कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ १५ ॥

**नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति-
विंशतिनामगोत्रयोः ॥ १६ ॥**

अर्थ- नामकर्म और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ १६ ॥

**आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति-
त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥**

अर्थ- आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

**वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति-
अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥**

अर्थ- वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तकों है ॥ १८ ॥

१. एक कोड़ागे एक करोड़का गुण करनेपर जो गुणनाकल आवे उस कोड़ाकोड़ी कहते हैं।

२. ती घटे उथात् ८८ मिनटका एक मुहूर्त होता है।

नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति-

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थं नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्तकी है ॥ १९ ॥

शेष पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति-

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अर्थः बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥ २० ॥

अनुभव (अनुभाग) बन्धका वर्णन-

अनुभव बन्धका लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थः कषायोंकी तीव्रता मन्दता अधिकतासे जो आस्त्रवर्मे विशेषता होती है उससे होने वाले विशेष पाकको विपाक कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावके निमित्तके बशने नाना-रूपताको प्राप्त होनेवाले पाकको विपाक कहते हैं। और इस पाकको ही अनुभव अर्थात् अनुभागबन्ध कहते हैं।

नोट-१ - शुभ परिणामोंकी अधिकता होनेपर शुभ प्रकृतियोंमें अधिक और शुभ प्रकृतियोंमें हीन अनुभाग होता है।

नोट-२ - अशुभ परिणामोंकी अधिकता होनेपर अशुभ प्रकृतियोंमें अधिक और शुभ प्रकृतियोंमें हीन अनुभाग होता है।

1. कावलोन्य रूपा और मुहूर्तमें नीचेके कालको अन्तमुहूर्त कहते हैं। अमांग्लान मगाली की एक आवली होती है।

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ- वह अनुभागबन्ध कर्मोंके नामानुसार ही होता है।

भावार्थ- जिस कर्मका जैसा नाम है उसमें वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है। जैसे ज्ञानावरण कर्ममें ज्ञानको रोकना, दर्शनावरण कर्म में 'दर्शनको रोकना' आदि ॥ २२ ॥

फल दे चुकनेके बाद कर्मोंका क्या होता है ?

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ- तीव्र मन्द या मध्यम फल दे चुकनेके बाद कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। अर्थात् कर्म उदयमें आकर आत्मासे पृथक हो जाते हैं।

निर्जराके दो भेद हैं- १ सविपाक निर्जरा और २ अविपाक निर्जरा।¹

सविपाक निर्जरा- शुभ अशुभ कर्मोंको जिस प्रकार वांधाथा उसी प्रकार स्थिति पूर्ण होने पर फल देकर आत्मासे पृथक होनेको सविपाक निर्जरा कहते हैं।

अविपाक निर्जरा- उदयकाल प्राम न होनेपर भी तप आदि उपायोंसे बीचमें ही फल भोगकर खिरा देनेको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

नोट- इस सूत्रमें जो 'च' शब्दका ग्रहण किया है उसमें अध्यायके 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्रसे सम्बन्ध सिद्ध होता है जिसमें यह मिछ हुआ कि कर्मोंकी निर्जरा तपसे भी होती है, अथात उक दो प्रकारकी निर्जराके कारण क्रमसं कर्मोंका विपाक और तपश्चरण है ॥ २३ ॥

1. 'विपाकः ग्रहकः' भथवा 'विविधः ग्राहकः चिरान्तः'

कर्मप्रकृति भेद तथा स्थितिबन्ध

| नं. | कर्म | भेद | उल्कष्ट स्थिति | जघन्य स्थिति |
|-----|-----------|------------|----------------------|---------------|
| १ | ज्ञानावरण | ५ | ३० कोङ्गाकोङ्गी सागर | अन्तर्मुहूर्त |
| २ | दर्शनावरण | ९ | ३० कोङ्गाकोङ्गी सागर | " |
| ३ | वेदनीय | २ | ३० कोङ्गाकोङ्गी सागर | १२ मुहूर्त |
| ४ | मोहनीय | २८ | ३० कोङ्गाकोङ्गी सागर | अन्तर्मुहूर्त |
| ५ | आयु | ४ | ३३ सागर | " |
| ६ | नाम | ४२ (९३) | २० कोङ्गाकोङ्गी सागर | ८ मुहूर्त |
| ७ | गोप्र | २ | २० कोङ्गाकोङ्गी सागर | ८ मुहूर्त |
| ८ | अन्तराय | ५ | योङ्गाकोङ्गी सागर | अन्तर्मुहूर्त |

प्रदेशबन्धका वर्णन

प्रदेशबन्धका स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्राव गाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः २४

अर्थ- (नामप्रत्ययाः) ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके कारण (सर्वतः) सब ओरसे अथवा देव नारकादि समूल भवोंमें (योगविशेषात्) मन वचन कायरूप योगविशेषसे (सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः) सूक्ष्म तथा एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित सर्वात्मप्रदेशेषु सम्पूर्ण आत्माके प्रदेशोंमें जो (अनन्तानन्तप्रदेशाः) कर्मरूप पुढ़गलके अनन्तानन्त प्रदेश हैं उनको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

नोट- उक्त सूत्रमें प्रदेशबन्धके विषयमें होनेवाले निम्न लिखित ६ प्रश्नोंका समाधान किया गया है।

- | | |
|-----------------------------|-----------------------------|
| (१) किसमें कारण है ? | (२) किस समय होता है ? |
| (३) किस कारणमें होता है ? | (४) किस स्वभाववाला है ? |
| (५) किसमें होता है ? और | (६) कितनी संख्यावाला है ? |

भावार्थ- आत्माके धोग्य-विशेषों द्वारा त्रिकालमें बन्धनेवाले, ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत, आत्माके समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त होकर कर्मरूप परिणामने योग्य मूल्क, आत्माके प्रदेशोंमें क्षीर-नीरकी तरह एक होकर स्थिर रहनेवाले, तथा अनन्तानन्त प्रदेशोंका प्रमाण लिए प्रदेशबन्धरूप पुद्गल स्कन्धोंको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥ २४ ॥

पुण्यप्रकृतियां-

सद्ब्रह्मसुभादुर्भावोत्तमाचित् तुष्ट्यम् ॥२५॥

अर्थ- स्त्रावा वेदनीय, शुभ आद्य, शुभ नाम और शुभ गोत्रये पुण्य प्रकृतियां हैं।

नोट- धातिया कर्मोंकी समस्त प्रकृतियां पापरूप हैं। किन्तु अशानियाँ कर्मोंमें पुण्य और पाप दोनोंरूप हैं। उनमेंसे ६८ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं ॥ २५ ॥¹

१) स्त्रावं तिष्णावाऽऽ उच्चं णस्मुगदुं च पंचिदी ।

देहा बन्धणसंव्यादेगोवगाहं व्रणच औं ॥६७॥

नागचतुर्लभिरिभं उवधादृणगृहलङ्क सगापाणं ।

दग्धदारद्व मट्टो, बादालमधैहदो महथा ॥६८॥ (अमंकाण्ड)

अधं स्त्रावेदनीय, हीन आद्य (लिंग, मनस्य, देव) उच्च गोत्र मनुष्यार्थ, मनुष्यान्पात्रान्पूर्व, देवगानि, देवान्प्राप्त्यन्पूर्व, पञ्चेन्द्रिय जातीं पाँच देव, पांच बन्धन, पांच संघात नाम श्रोगोपलंग, २० वर्गादिक, सप्तचतुरस्त्रयस्थान, व व्रत्यग्नागच संहेत्र, उपशमनको छाड़कर अगुरुलघु उपादि ६ (अगुरुलघु, पग्धात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत), प्रज्ञनं चत्वारिंशति और उसको उपादि लेकर बाक्षर (उम, वादर, पर्याप्ति, ग्रन्थेक शरोर, विश्व शुभ, मुभग, सुखव, आदेय, यशरक्तीर्ति, प्रमाण और वीर्थकरत्व)। इस तरह भेद विवरणमें ६८ पुण्यप्रकृतियां हैं और अधेद विवरणमें ८८ द्वां द्वां ज्ञांकि १६ वर्गादिकके और गरजनं जलगत हुए ५ बन्धन और १ संघातके उप तरह १६ ऐन चटानिमें ८८ द्वां द्वां ज्ञांकि १६।

पाप प्रकृतियां-

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ- इससे भिन्न अर्थात् असात्तावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पापप्रकृतियां हैं । ॥२६ ॥

इति श्रीमद्भास्कारिनिरचिते मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः ॥

१ आदी गण्डममादं, गिरथाऽग्निर्यतिरियदुग जादी
मंठाणमेहदीणं चदुषणषणां च वण्णचओ ॥ ८३ ॥
उद्यादममगमणं, थावरदमयं च अप्यमल्या हु ।
बंधुदयं पहि भेदे अद्गुडादि सयं दुक्तुरसांदिदरे ॥ ८४ ॥

(कर्मकोण)

अथ- घातिया कर्मोंकी (५+९-२८+५ ८७) ग्रीतालीस नीचगौत्र, असात्तावेदनीय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यक्गति, तिर्यक्गत्यानुपूर्वी, आदिके ४ जातियां, ५ मन्थ्यान, ५ मंहनन, वर्णांदिक १०, तपशात, आप्रशस्त विहायोगति तथा स्थावरका आदि लेकर १६ (स्थावर, मृक्षम, अप्यांसि, माधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःख्यार, अनादेय और अप्यशङ्कीर्ति) इम प्रकार भेदज्ञिवशामें १०० प्रकृतियां और अभेद विवशामें ८६ प्रकृतियां पापरूप हैं। क्योंकि वर्णांदिकके १६ भेद घटानेसे ८६ भेद रहते हैं। इनमेंमे स्थावरिमश्यात्म और स्प्यत्वप्रकृति इन दो का बन्ध नहीं होनेसे भेद-विवशामें १८ का बन्ध और १०० उदय होता है।

नोट- वर्णांदि चार अथवा उनके १० भेद पुण्य और पाप दोनों रूप हैं, इमालियं वं दोनों ही भेदोंमें गिने जाते हैं।

प्रश्नावली

- (१) बन्ध किसे कहते हैं ?
- (२) ज्ञानावग्नादि कमें किस द्रव्यके भेद हैं ? यदि पुद्गलके हैं तो देखनेमें क्यों नहीं आते ?
- (३) दर्शनोहनीय कार्पके कितने भेद हैं ? और उनका क्या स्वरूप है ?
- (४) विग्रहगतिमें जोवका आकार कैसा होता है ? और वैसे होनेमें कारण क्या है ?
- (५) पश्चात्ति, अस्थिर, वाह्नवृषभनाराष्ट्रसंहनन, प्रशस्त विहारीगति और लाभालगाव, इन कर्मोंके लक्षण चतुआं
- (६) मब कर्मोंकी उत्कृष्ट मर्यादा ओ :
- (७) अपने किये हुए कर्मोंका फल कब भोगना पड़ता है ?
- (८) प्रदेशबन्ध किसे कहते हैं ?
- (९) फल दे चुकनेके बाद कर्मोंका क्या होता है ?
- (१०) पाप प्रकृतियाँ कितनी हैं ? गिनाओ ।

नवम अध्याय

संवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन

संवरका लक्षण-

आस्त्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ- आस्त्रवका रोकना सो संवर है। अर्थात् आत्मामें जिन कारणोंसे कर्मोंका आस्त्र होता था उन कारणोंको दूर कर देनेसे जो कर्मोंका आना बन्द हो जाता है उसको संवर कहते हैं।

संवरके दो भेद हैं- १ द्रव्य संवर (पुदगलमय कर्मोंके आस्त्रवका रूपका) और २ भावसंवर (कर्मास्त्रवके कारणभूत भावोंका अभाव होना), ॥१॥

संवरके कारण--

स गुस्मिसमितिधर्मनुप्रेक्षापरीष्ठहजयचारित्रैः ॥२ ॥

अर्थ- वह संवर तीन गुस्मि, पांच समिति, दश धर्म, बाह्य अनुप्रेक्षा, बाईस परीष्ठहोंको जीतना और पांच प्रकारका चारित्र इन छह कारणोंसे होता है।

गुस्मि-संसार-धर्मणके कारणस्वरूप काय, बद्ध और मन इन तीन योगोंके विग्रह करनेको गुस्मि कहते हैं।

समिति-जीवोंकी हिंसासे बचनेके लिये यताचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेको समिति कहते हैं।

धर्म जो आत्माको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर अभीष्ट स्थानमें प्राप्त करावे उसे धर्म कहते हैं।

अनुप्रेक्षा-शरीरादिके स्वरूपका बार बार चिन्तवन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं।

परिष्ठहजय-भूख आदिकी वेदना उत्पन्न होनेपर कर्मोंकी निर्जरा

करनेके लिये उसे शांत भावोसे सह लेना उसे परिषह जय कहते हैं।

चारित्र कर्मोंके आख्यवमें कारणभूत बाहु आध्यन्तर कियाओंके रोकनेको चारित्र कहते हैं ॥ २ ॥

निर्जरा और संबरका कारण

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ- तपसे निर्जरा और संबर दोनों होते हैं।

नोट- १ - तपका दश प्रकारसे धर्मोंमें अन्तर्भाव हो जानेपर भी जो अलगसे ग्रहण किया है उसका प्रधोजन यह है कि यह संबर और निर्जरा दोनोंका कारण है तथा संबरका प्रधान कारण है।

नोट- २ - यद्यपि पुण्यकर्मका बन्ध होना भी तपका फल है तथापि तपका प्रधान फल कर्मोंकी निर्जरा ही है। जब तपमें कुछ न्यूनता होती है तब उससे पुण्यकर्मका बन्ध हो जाता है। इसलिये पुण्यका बन्ध होना तपका गौणफल है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न होना है। और गौण फल पलाल (प्वाल) बगैरहका उत्पन्न होना है ॥ ३ ॥

गुसिका लक्षण च भेद-

सम्यग्योगनिग्रहो गुसिः ॥ ४ ॥

अर्थ- भले प्रकारसे अर्थात् विषयाभिलाषाको छोड़कर, काय, वचन और मनको स्वच्छन्द प्रवृत्तिके रोकनेको गुसि कहते हैं। उसके तीन भेद हैं- १ कायगुसि (कायको रोकना) २ वचनगुसि (वचनको रोकना) और ३ मनगुसि (मनको वशमें करना) ॥ ४ ॥

समितिके भेद-

ईर्याभाषेषणादाननिक्षेपोत्सर्गः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ- सम्यग् ईर्या' (चार हाथ आगे जर्मान देखकर चलना),

१. इस मूत्रमें ऊपरके मूत्रमें पश्चक पदकी अनुवृत्ति आती है।

संवरतत्त्वके ५७ भेद

संकार

| गुणित | मापिति | धर्म | अनुपेक्षा | परिषहजय | चारित्र |
|--------------------|--------------|---------------|------------|-------------------|-------------------|
| १ कायगुणि | १ ईर्या | १ उनम् क्षमा | १ अनित्य | १ क्षमा | १ = ५७ |
| २ आगगुणि | २ भाषा | २ उनम् मार्दव | २ अशरण | २ तृष्णा | २ छेदोपस्थापना |
| ३ परोगुणि | ३ एषणा | ३ उनम् आर्जव | ३ संसार | ३ शीति | ३ परीहारविशुद्धि |
| ४ अदान | ४ उनम् शीति | ४ एकलव्य | ४ उणा | ४ अलाभ | ४ सूक्ष्मसाम्पराय |
| ५ निषेपण | ५ उनम् सत्य | ५ अन्यत्व | ५ दंशमशक | ५ रोग | ५ यथाभ्यात |
| ६ उत्सर्ग | ६ उनम् संयम | ६ अशुचित्व | ६ नाग्य | ६ तुणस्पर्श | |
| ७ उत्सम् | ७ उनम् तप | ७ आसन्व | ७ अरति | ८ मल | |
| ८ उत्तम | ८ उनम् त्वाग | ८ संवर | ८ स्त्री | ९ सत्कार पुरस्कार | |
| ९ उत्तम आकिञ्चन्य | ९ निर्जना | ९ चर्या | १० प्रज्ञा | | |
| १० उनम् ब्रह्मचर्य | १० लोक | १० निषद्या | ११ अङ्गन | | |
| ११ बोधिदुर्लभ | ११ शम्भा | ११ शम्भा | १२ अदर्शन | | |
| १२ धर्म | | | | | |

सम्यग् भाषा (हित मिन प्रिय वचन बोलना), सम्यग् एषणा (दिनमें एकबार शुद्ध निर्दोष आहार लेना), सम्यग् आदान निक्षेपण (देखभालकर किसी वस्तुको उठाना रखना) और सम्यग् उपसर्ग (जीव सहित स्थानमें मलमूत्र क्षेपण करना) ये पांच समितिके भेद हैं ॥ ५ ॥

दश धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम- तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ- उत्तम क्षमा (क्रोधके कारण उपस्थित रहते हुए भी क्रोध नहीं करना), उत्तम मार्दव (उत्तम कुल, जिदा, बल आदिओं परंपराएँ नहीं करना), उत्तम आर्जव (सायाचारका त्याग करना), उत्तम शौच (लोभका त्याग कर आत्माको पवित्र बनाना), उत्तम सत्य (रागद्वेष यूर्वक असत्य वचनोंको छोड़कर हित मित प्रिय वचन बोलना), उत्तम संयम (५ इन्द्रिय और मनको वशमें करना तथा छह कायके जीवोंकी रक्षा करना), उत्तम तप (बाह्याभ्यन्तर १२ प्रकारके तपोंका करना), उत्तम त्याग (कीर्ति तथा प्रत्यपकारकी चांच्छासे रहित होकर चार प्रकारका दान देना), उत्तम आकिञ्चन्य (पर पदार्थोंमें प्रमत्वरूप परिणामोंका त्याग करना) और उत्तम ब्रह्मचर्य (स्त्री मात्रका त्यागकर आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहना) ये दश धर्म हैं।

बारह अनुप्रेक्षाएँ-

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्त्रवसंवरनिर्जरा लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः

अर्थ- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारहके स्वरूपको बार बार चिन्तन करना सो अनुप्रेक्षा है।

अनित्यानुप्रेक्षा- संसारके समस्त पदार्थ इन्द्रियनुष्ठ विजली अथवा जलके बबूलेके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशारणानुप्रेक्षा- जिस प्रकार निर्जन बनमें भूखे मिहके द्वारा पकड़े हुए हारिणके बच्चेको कोई शरण नहीं है उसी प्रकार इस संसारमें मरने हुए जीवको कोई शरण नहीं है। यदि अच्छे भावोंसे धर्मका सेवन किया है तो वही आर्यानियोगमें बचा सकता है। इस प्रकार चिन्तवन करना सो अशारण-अनुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा- इस चर्तुर्गति कप मन्मामर्में भ्रमण करता हुआ जीव पितासे पुत्रसे, पुत्रसे भिजा, मृत्युसे शाश्वत दाससे रक्षादी हो जाता है। और तो क्या, मृत्युं अपना भी पुत्र हो जाना है, इत्यादि संसारके दुःखमय स्वरूपका विचार करना सो संसारानुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षा- जन्म, जरा, परण, रोग आदिके दुःख में अकेला ही भोगता हूँ, कुटुम्बी आदि जन साथी नहीं है इत्यादि विचार करना सो एकत्वानुप्रेक्षा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा- शरीरादिसे अपनी आत्माको भिन्न चिन्तवन करना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा- यह शरीर महा अपवित्र है, खून, मांस आदि से भरा हुआ है, स्नान आदिसे कभी पवित्र नहीं हो सकता। इससे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं, इत्यादि शरीरकी अपवित्रता का विचार करना सो अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा- मिथ्यात्व आदि भावोंसे कर्मोंका आस्रव होता है, आस्रव ही संसारका मूल कारण है, इस प्रकार विचार करना सो आस्रवानुप्रेक्षा है।

संवरानुप्रेक्षा- आत्माके नवीन कर्मोंका प्रकेश नहीं होने देना सो संवर है। संवरसे ही जीवोंका कल्पण होता है, ऐसा विचार करना सो संवरानुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षा- सविपाक्षनिर्जरासे आत्मा का कछ भला नहीं होना किन्तु अविपाक्षनिर्जरासे ही आत्माका कल्याण होता है। इत्यादि निर्जराके स्वरूपका चिन्तवन करना सो निर्जरानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा- अनन्त अलोकाकाशके ठीक बीचमें झनेवाले चोटह राजु-प्रमाण लोकके आकाशादिकका चिन्तवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा- रत्नत्रयरूप बोधिका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार विचारना सो बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

धर्म स्वाध्यात्मानुप्रेक्षा- जिनेन्द्र धगवानके द्वारा कहा हुआ अहिंसा लक्षणवाला धर्म ही जीवोंका कल्याण करनेवाला है। इसके प्राप्त न होनेमें ही जीव चतुर्गतिके दुःख सहते हैं, आदि विचार करना सो धर्म स्वाध्यात्मानुप्रेक्षा है।

नोट- इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करनेवाला जीव उत्तम क्षमा आदि धर्मोंको पालता है और परिषहोंको जीतता है। इसलिए इनका कथन दोनोंके बीचमें किया गया है ॥ ७ ॥

परिषह सहन करनेका उपदेश-

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः । ८ ।

अर्थ- संवरके मार्गसे च्युत न होनेके लिए तथा कर्मोंकी निर्जराके हेतु बाईस परिषह सहन करने योग्य हैं ॥ ८ ॥

बाईस परिषह-

**क्षुत्पिपासाशीतोष्णादंशमशकनागन्यारतिस्त्रीचर्या-
निषद्याशच्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्यर्थ-
मलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥**

अर्थ- १ क्षुधा, २ तृष्णा, ३ श्रीत, ४ उष्णा, ५ दंशमशक, ६ नामन्य, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषद्या, ११ शश्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तुष्णा-स्पर्श, १८ मल, १९ सत्कार पुरास्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान और २२ अदर्शन, ये बाईस परिषह हैं।

क्षुधा- (भूख) के दुःखको शात भावसे सह लेना क्षुधा परिषहजय है।

तृष्णा- पिपासारूपी अद्विको धर्मकृषी जलसे शांत करना तृष्णा परिषहजय है।

श्रीत- श्रीतकी वेदनाको शांत भावोंसे सहना श्रीत परिषहजय है।

उष्णा- गर्भीकी वेदनाको शांत भावोंसे सहना उष्णा परिषहजय है।

दंशमशक- डांश, मच्छर, बिच्छू, चिंडनी आदिके काटनेसे उत्पन्न हई वेदनाको शांत भावोंसे सहना सो दंशमशक परिषहजय है।

नाम्य- नग्न रहने हुये भी मनमें किसी प्रकारका विकार नहीं करना सो नाम्य परिषहजय है।

अरति-अरतिके कारण उपस्थित होनेपर भी संघर्षमें अरति अर्थात् अप्रीति नहीं करना सो अरति परिषहजय है।

स्त्री- स्त्रियोके हावभाव, प्रदर्शन आदि उपद्रवोंको शांत भावसे सहना, उसे देखकर मोहित नहीं होना सो स्त्री परिषहजय है।

चर्या- गमन करने समय खेदखिल नहीं होना सो चर्या परिषहजय है।

निषद्या- ध्यानके लिये नियमित कालपर्यंत स्वीकार किये हुए आसनसे च्युत नहीं होना सो निषद्या परिषहजय है।

शश्या- विषय कठोर कंकरीले आदि स्थानोंमें एक करवटसे निदा लेना और अनेक उपसर्ग आनेपर भी शरीरको चलायमान नहीं करना, सो शश्या परिषहजय है।

आक्रोश- दृष्टि जीवोंके द्वारा कहे हुए कठोर शब्दोंको शांत भावोंसे सह लेना सो आक्रोश परिषहजय है।

बध- तलबार आदिके द्वारा शरीरपर प्रहार करनेवालोंसे भी द्वेष नहीं करना सो बध परिषहजय है।

याचना- प्राणोंके विद्योगका अवसर होनेपर भी आहारादिकको नहीं मांगना सो याचना परिषहजय है।

अलाभ- भिक्षाके प्राप्त न होनेपर सन्तोष धारण करना सो अलाभ परिषहजय है।

रोग- अनेक रोग होनेपर भी उनकी वेदनाको शांत भावोंसे सह लेना सो रोगपरिषहजय है।

तुणस्पर्श- चलते समय पानोंमें तुण कटक वगैरहके द्वुभ जानेसे उत्पन्न हुए दुःखको सहना सो तुणस्पर्श परिषहजय है।

मलपरिषहजय- जलकार्यिक जीवोंकी हिसासे बचनेके लिए स्नान न करना तथा अपने मलिन शरीरको देखकर ग्लानि नहीं करना सो मलपरिषहजय है।

सत्कारपुरस्कार- अपनेमें गुणोंकी अधिकता होनेपर भी यदि कोई सत्कारपुरस्कार न करे तो चित्तमें कल्युषता न करना सो सत्कार पुरस्कार^१ परिषहजय है।

प्रज्ञा- ज्ञानकी अधिकता होनेपर भी मान नहीं करना सो प्रज्ञा परिषहजय है।

अज्ञान- ज्ञानादिककी हीनता होनेपर लोगोंके द्वारा किये हुए तिरस्कारको शांत भावोंसे सह लेना अज्ञान परिषहजय है।

अदर्शन- बहुत समय तक कठोर तपश्चर्या करने पर भी मुझे १. प्रसंशाको सत्कार कहते हैं।

२. कोई कार्य करने समय अग्रआ बन जेना मां गुरस्कार है।

अवधिज्ञान नथा चारण आदि क्रहिद्धियोंकी प्राप्ति नहीं हुई इसलिए व्रत धारण करना व्यर्थ है, इस प्रकार अश्रद्धानके भाव नहीं होना सो अदर्शन परिषहजय है।

नोट- उक्त बाईस परिषहोंको संक्लेशरहित भावोंसे जीत लेने पर संवर होता है।

किस गुणस्थान^१ में कितने परिषह होते हैं ?

सूक्ष्मसाम्परायच्छुद्दस्थवीतरागयोश्चतुर्दशा ॥१०॥

अर्थ- सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें और छद्दस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें उपशांतमोह तथा बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थानमें १४ परिषह होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। १ क्षुधा, २ तृष्णा, ३ श्रीत, ४ उच्छा, ५ दंशमशक, ६ च्छर्वा, ७ श्राव्या, ८ वध, ९ अलाभ, १० रोग, ११ तृणस्यर्श, १२ मल १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थ- संयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले जिनेन्द्र भगवानके ऊपर लिखे हुए १४ परिषहोंमेंसे अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञानको छोड़कर शंख ११ परिषह होते हैं।

नोट- जिनेन्द्र भगवानके वेदनीय कर्मका उदय होनेसे उसके उदयसे होनेवाले ११ परिषह कहे गये हैं। यद्यपि मोहनीय कर्मका उदय न होनेसे भगवानको क्षुधादिककी वेदना नहीं होती । तथापि इन परिषहोंका

१. मोह और योगके निमिज्जमें होनेवालो आत्मपरिणामोंकी वरकागताको गुणस्थान कहते हैं। वे ११ होते हैं । १. चित्त्याहार्षि, २. मांसादन, ३. गिश, ४. असंघर्ष मध्यगद्दि, ५. देशांवरण, ६. प्रात्यर्थ्यंयत, ७. अप्रमत्त्यंयत, ८. अप्रक्रिकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३. संयोगावेक्षनों और १४. प्रयोगकेवली । २. वेदनीय क्रम, मोहमीय क्रमकी संगति पाकर ही दुष्खका कारण होता है, स्वतन्त्र नहीं ।

कारण वेदनीय कर्म मौजूद है, इसलिए उपचार से ११ परिषह कहे गये हैं। वास्तवमें उनके एक भी परिषह नहीं होता है ॥ ११ ॥

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ- बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषायबालें छठवें से नववें गुणस्थान तक सब परिषह होते हैं। क्योंकि इन गुणस्थानोंमें परिषहोंके कारणभूत सब कर्मोंका उदय है ॥ १२ ॥

कौन परिषह किस कर्मके उदयसे होता है ?

ज्ञानवरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ- प्रज्ञा 'और अज्ञान ये दो परिषह ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होते हैं ॥ १३ ॥

दर्शनमोहनीतरायथ्योरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ- दर्शनमोहनीय और अन्तराय कर्मका उदय होनेपर कर्मसे अदर्शन और अलाभ परिषह होते हैं ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाम्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशायाचना सत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थ- चारित्रमोहनीय कर्मका उदय होनेपर नाम्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कारके ये उ परिषह होते हैं ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

१. ज्ञानावरण कर्मका उदय होनेपर जो थोड़ा ज्ञान प्रकट होता है वह अहंकारको ऐदा करता है। ज्ञानावरणका नाश हो जानेपर अहंकार नहीं होता। इसान्तर्ये प्रज्ञा परिषह भी ज्ञानावरणके कर्मके उदयमें माना है।

अर्थ- शेषके ११ परिषह (क्षुधा, तुषा, शीत, उष्ण, दंशमणक, चम्पा, वध, रोग, तुणस्यर्थ और मल) वेदनीय कर्मके उदयसे होते हैं ॥ १६ ॥

एकसाथ होनेवाले परिषहोंकी संख्या-

एकादयोभाज्यायुगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतिः ।१७ ।

अर्थ- (युगपत्) एकसाथ (एकस्मिन्) एक जीवमें (एकादयः) एकको आदि लेकर (आ एकोनविंशतिः) उत्रीस परिषह तक (भाज्याः) विभक्त करना चाहिये ।

भाज्यार्थ- एक जीवके एक कालमें अधिक १९ परिषह हो सकते हैं, क्योंकि शांत और उष्ण इन दो परिषहोंमेंसे एक कालमें एक ही होगा तथा शम्पा, चर्या और निषद्या इन तीनोंमेंसे भी एक कालमें एक ही होगा । इस प्रकार ३ परिषह कम कर दिये गये हैं ॥ १७ ॥ १

पांच चारित्र-

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्म-

साम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्रके पांच भेद हैं ।

सामायिक चारित्र- भेद रहित सम्पूर्ण पापोंके त्याग करनेको सामायिक कहते हैं ।

छेदोपस्थापना- प्रमादके वशसे चारित्रमें कोई दोष लग जानेपर

1. यहाँ कहें प्रश्न कर भक्ता है कि प्रज्ञा और अज्ञान भी एकस्याए नहीं होंगे इसलिये १ परिषह और कम करना चाहिये । पर वह प्रश्न ठोक नहीं है, क्योंकि एक ही कालमें एक ही जीवके श्रहज्ञानादिकी अपेक्षा प्रज्ञा और अवधिज्ञानादिककी अपेक्षा अज्ञान रह सकता है ।

प्रायश्चित्तके द्वारा उसको दूर कर पुनः निर्दोष चारित्रको स्वीकार करना सो छेदोपस्थापना कहते हैं।

परिहारविशुद्धि- जिस चारित्रमें जीवोंकी हिंसाका त्याग हो जानेसे विशेष शुद्धि प्राप्त होती है उसको परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं।

सूक्ष्मसाप्पराय- अत्यन्त सूक्ष्म लोभ कषायका उदय होनेपर जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्मसाप्पराय चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात- सम्पूर्ण भोगनीय कर्मके क्षय अथवा उपशमसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थिर होनेको यथाख्यात चारित्र कहते हैं¹ ॥१८॥

निर्जरातत्त्वका दर्णन-

बाह्य तप-

अनशनावमौदर्ववृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग-
विविक्तशब्द्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९ ।

अर्थ- १-अनशन (संयमकी वृद्धिके लिये चार प्रकारके आहारका त्याग करना), २-अवमौदर्व (रागभाव दूर करनेके लिये भूखसे कम भोजन करना), ३-वृत्तिपरिसंख्यान (भिक्षाको जाते समय घर, गली आदिका नियम करना), ४-रसपरित्याग (इन्द्रियोंका दमन करनेके लिये धृत दुग्ध आदि रसोंका त्याग करना), ५-विविक्तशब्द्यासन (स्वाध्याय ध्यान आदिकी सिद्धिके लिये एकांत तथा पवित्र स्थानमें सोना बैठना) और ६-कायक्लेश (शरीरसे मपत्व न रखकर आतापन योग आदि धारण करना), ये बाह्य तप हैं। ये तप बाह्य द्रव्योंकी अपेक्षा होते हैं तथा बाह्यमें सबके देखनेमें आते हैं इसलिये बाह्य तप कहे जाते हैं ॥१९॥

१. मामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र ६ वें ७ वें ८ वें ९ वें गुणस्थानमें होते हैं। परिहारविशुद्धि ८ वें और ७ वें सूक्ष्मसाप्पराय १० वें और यथाख्यात चारित्र ११ वें, १२ वें, १३ वें और १४ वें गुणस्थानमें होता है।

आध्यन्तर तप-

**प्रायश्चित्तविनयवैद्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्ग-
ध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥**

अर्थ- १-प्रायश्चित्त (प्रमाद अथवा अज्ञानसे लगे हुये दोषोंकी शुद्धि करना), २-विनय (पूज्य पुरुषोंका आदर करना) ३-वैद्यावृत्य (शरीर तथा अन्य वस्तुओंसे मुनियोंको सेवा करना), ४-प्रायश्चित्त (ज्ञानकी भावनामें आलस्य नहीं करना), ५-व्युत्सर्ग (बाहु और आध्यन्तर परिणयका त्याग करना) और ६-ध्यान (चित्तकी चंचलताको रोककर उसे किसी एक पदार्थके चिन्तवनमें लगाना) ये आध्यन्तर तप हैं। इन तपोंका आत्मासे घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिये उन्हें आध्यन्तर तप कहते हैं ॥ २० ॥

आध्यन्तर तपोंके उत्तरभेद-

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् २१

अर्थ- ध्यानसे यहलेके पांच तप क्रमसे १, ४, १०, ५ और २ भेदबाले हैं ॥ २१ ॥

प्रायश्चित्तके १ नव भेद-

**आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्ग-
तपच्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥**

अर्थ- १-आलोचना (प्रमादके बशसे लगे हुये दोषोंको गुरुके पास जाकर निष्कपट रीतिसे कहना), २-प्रतिक्रमण (मेरे द्वारा किये हुए अपराध मिथ्या हों ऐसा कहना), ३-तदुभय (आलोचना और प्रतिक्रमण

1. प्रायः = अपराध, चित्त = शुद्धि, अपराधको शुद्धि करना प्रायश्चित्त है।

दोनोंको करना), ४-विवेक(संयुक्त आहार पानीका तथा अन्य उपकारणोंका नियमित समय तक पृथक् विभाग करना) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग करना), तप (उपवासादि करना), छेद (एक दिन, एक पक्ष, महीना आदिकी दीक्षाका छेद करना^१), परिहार (दिन, पक्ष, महीना आदि नियमित समय तक संघर्षे पृथक् कर देना) और उपस्थापन (संपूर्ण दीक्षाका छेद कर फिरसे नवीन दीक्षा देना) ये ९ प्रायश्चित्त तपके भेद हैं । यह प्रायश्चित्त संघके आचार्य देते हैं ॥ २२ ॥

विनय तपके ४ भेद-

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ- १ ज्ञान विनय (आदरपूर्वक योग्यकालमें शास्त्र यढ़ना, अध्यास करना आदि), २ दर्शन (शङ्का कांक्षा आदि दोष रहित सम्यग्दर्शन धारण करना), ३ चारित्र विनय (चारित्रको निर्दोष रीतिसे पालना), और ४ उपचार विनय (आचार्य आदि पूज्य पुरुषोंको देखकर खड़े होना, नमस्कार करना आदि) ये चार विनय तपके भेद हैं ॥ २३ ॥

वैयाकृत्य तपके १० भेद-

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघ-

साधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ- आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, मनोज्ञ, वैयाकृत्य तप के दण भेद हैं ।

१. ब्रादमें दीक्षित हुए मुनि पहलेके दीक्षित मुनियोंको नगस्कार करते हैं, फर जितने समयकी दीक्षा छेद दी जाती है उसको उतने समयमें दीक्षित हुए नये मुनियोंको नमस्कारादि करना पड़ता है । जो मुनि पहले उनके शिष्य गगड़े जाते थे दीक्षा छेद होने पर वह मुनि उनका शिष्य कहलाने लगता है । संघ, माधु और गनोज इन १० प्रकारके मुनियोंकी ऐवा दहल करना सो आचार्य, वैयाकृत्य आदि १० प्रकारका वैयाकृत्य है ।

आचार्य- जो मुनि पञ्चाचारका स्वयं आचरण करते और दूसरोंको आचरण करते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय- जिनके पास शास्त्रोंका अध्ययन किया जाता हो वे उपाध्याय कहलाते हैं।

तपस्वी- महान् उपवास करनेवाले साधुओंको तपस्वी कहते हैं।

शैक्ष्य- शास्त्रके अध्ययनमें तत्पर मुनि शैक्ष्य कहलाते हैं।

ग्लान- रोगसे पीड़ित मुनि ग्लान कहलाते हैं।

गण- बृद्ध मुनियोंके अनुसार चलनेवाले मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं।

कुल- दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्योंको कुल कहते हैं।

सङ्घ-ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंके समूहको सङ्घ कहते हैं।

मनोज- लोकमें जिनवरी पश्चामा बढ़ रही हो उन्हें मनोज कहते हैं।

स्वाध्याय तपके ५ भेद-

वाचना प्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थ- वाचना (निर्देश ग्रन्थोंको उसके अर्थको तथा दोनोंको भव्य जीवोंको श्रवण करना), प्रच्छना (संशयको दूर करनेके लिये अथवा कृत निश्चयको दृढ़ करनेके लिये प्रश्न पूछना) अनुप्रेक्षा (जाने हुए पदार्थका बार बार विन्तवन करना), आमाय (निर्देश उच्चारण करते हुए पाठ करना) और धर्मोपदेश (धर्मका उपदेश करना) ये पाँच स्वाध्याय तपके भेद हैं।

ब्युत्सर्ग तपके दो भेद-

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ- बाह्योपधिब्युत्सर्ग (धनधान्यादि बाह्य पदार्थोंका त्याग करना), और आभ्योन्तरोपधिब्युत्सर्ग (क्रोध, मान आदि खोटे भावोंका त्याग करना), ये दो ब्युत्सर्ग तपके भेद हैं ॥ २६ ॥

ध्यान तपका लक्षण-

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमात्मर्मुद्वृत्तत् २७

अर्थ- (उत्तमसंहननस्य) ^१ उत्तम संहननवालेका (अन्तर्मुद्वृत्तात्) अन्तर्मुद्वृत्तपर्यन्त (एकाग्रचिन्तानिरोधः) एकाग्रतासे चिन्ताका रोकना (ध्यानम्) ध्यान है।

भावार्थ- किसी एक विषयमें चिन्तको रोकना सो ध्यान है। वह उत्तम संहननधारी जीवोंके ही होता है और एक पदार्थका ध्यान अन्तर्मुद्वृत्तसे अधिक समय तक नहीं होता है।

ध्यानके भेद-

आर्तरोदध्यार्थ्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ- आर्तध्यान, रोदध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यानके चार भेद हैं॥ २८ ॥

परे मोक्षहेतु ॥ २९ ॥

अर्थ- इनमेंसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं।

नोट १- धर्मध्यान परम्परासे और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षका कारण है।

नोट २- शुरूके आर्त और रोद ये दो ध्यान संसारके कारण हैं।

आर्तध्यान ^२ का लक्षण और भेद-

आर्तममनोजस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-

समन्वाहारः ॥ ३० ॥

1. वत्रवृषभ नाराच, वत्रनाराच और नाराच ये तीन संहनन उत्तम संहनन कहलाते हैं। इन मंहनन धर्मी जीवोंके ध्यान होता है। यह कथन तत्कृष्ट ध्यानको लक्ष्यमें रखकर किया हुगया है। 2. दुःखमें होनेवाले ध्यानको आर्तध्यान कहते हैं।

अर्थ- अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर उसे दूर करनेके लिए बार बार चिन्ता करना सो (१) अनिष्ट इष्टेतत् नामक आर्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ- स्त्री पुत्र आदि इष्टजनोंका वियोग होनेपर उनके संयोगके लिए बार बार चिन्ता करना सो (२) इष्ट वियोगज नामक आर्तध्यान हैं ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ- योगजनित पीड़ाका निरन्तर चिन्तन करना सो (३) वेदनाजन्य नामक आर्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ- आगामी काल सम्बन्धी विषयोंकी प्राप्तिमें चिन्तको तल्लीन करना सो (४) निदानज नामक आर्तध्यान ॥ ३३ ॥

गुणस्थानोंकी अपेक्षा आर्तध्यानके स्वामी- तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ- वह आर्तध्यान अविरत अर्थात् आदिके चार गुणस्थान, देशविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान और प्रमत्तसंयत अर्थात् छठवें गुणस्थानमें होता है।

नोट- छठवें गुणस्थानमें निदान नामका आर्तध्यान नहीं होता है ॥ ३४ ॥

रौद्रध्यानके १ भेद च स्वामी- हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत देशविरतयोः ॥ ३५ ॥

1. क्लर. परिणामोंके होने हुए जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

अर्थ- हिंसा, ज्ञान, चोरी और विषय संरक्षण से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है और वह अविरत तथा देशविरत (आदिके पाँच) गुणस्थानोंमें होता है।

भावार्थ- निमित्तके भेदसे रौद्रध्यान चार प्रकारका होता है । १- हिंसानन्दी (हिंसामें आनन्द मानकर उसीके साधन जुटानेमें तल्लीन रहना), २- भृष्णानन्दी (असत्य बोलनेमें आनन्द मानकर उसीका चिन्तवन करना), ३- चौरानन्दी (चोरीमें आनन्द मानकर उसीका चिन्तवन करना), और ४- परिग्रहानन्दी (परिग्रहकी रक्षाकी चिन्ता करना) ॥ ३५ ॥

धर्मध्यान^१ का स्वरूप व भेद-

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् । ३६ ।

लार्य- अऽग्निविचय, आज्ञाविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयके लिए चिन्तवन करना सो धर्मध्यान हैं।

भावार्थ- धर्मध्यानके चार भेद हैं- १ आज्ञाविचय (आगमकी प्रमाणतामें अर्थका विचार करना), २ अपायविचय (संसारी जीवोंके दुःखका तथा उससे छुटनेके उपायका चिन्तवन करना), ३ विपाकविचय (कर्मके फलका-उदयका विचार करना) और ४ संस्थानविचय (लोकके आकारका विचार करना ।)

स्वामी- यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी चढ़नेके पहले पहले तक होता है ॥ ३६ ॥

शुक्लाध्यान^२ के स्वामी-

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ३ ॥ ३७ ॥

१. धर्मविशिष्टध्यानको धर्मध्यान कहते हैं । २. शुक्लध्यानको शुक्लध्यान कहते हैं । ३. यह कथन उल्काशताकी अपेक्षा है । माध्यारण रूपमें यह ध्यान आप ग्रन्थचन मातृका तक जानवालोंके भी हो सकता है ।

अर्थ- प्रारम्भके पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक दो शुक्लध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवलीके ही होते हैं।

नोट- चकारसे श्रुतकेवलीके धर्मध्यान भी होता है ॥ ३७ ॥

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ- अन्तके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो शुक्लध्यान संयोगकेवली और अयोगकेवलीके ही होते हैं । ॥ ३८ ॥

शुक्लाध्यानके चार भेदोंके नाम-

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरत- क्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ- पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ- जिसमें वितर्क और विचार दोनों हों उसे पृथक्त्ववितर्क विचार नामक शुक्लध्यान कहते हैं । और जो केवल वितर्कसे सहित हो उसे एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं ।

सूक्ष्मकाययोगके आलम्बनसे जो ध्यान होता है उसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान कहते हैं । जिसमें आत्मप्रदेशोंमें परिस्पन्द पैदा करनेवाली श्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाएँ निवृत हो जाती हैं-रुक जाती हैं उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक शुक्लध्यान कहते हैं ॥ ३९ ॥

१. यहला भेद सातिशय अप्रमत्त नामक सातके गुणस्थानमें लेकर म्यारवें गुणस्थान तक रहता है । इसमें गोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय होता है । दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानमें होता है । इसमें शेष घातिया कर्मोंका क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है । तीसरा भेद द्वेषवें गुणस्थानके अन्त समयमें होता है और चौथा भेद द्वौद्धवें गुणस्थानमें होता है इसमें उपान्त्य तथा अन्त समयवें क्रमसे ७२ और १३ प्रकृतियोंका क्षय होकर गोक्ष प्राप्त होता है ।

शुक्लध्यानके आलम्बन-
त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ- उक्त चार भेद क्रमसे तीन योग, एकयोग, काययोग और योगरहित जीवोंके होते हैं। अर्थात् पहला पृथक्लवितक्रध्यान काय, वचन, मन इन तीनों योगके धारकके होता है। दूसरा एकत्ववितक्रध्यान तीन योगोंमेंसे किसी एक योगके धारकके होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपातिध्यान सिर्फ़ काययोगके धारकके होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति योगरहित जीवोंके होता है ॥ ४० ॥

आधिके दो ध्यानोंकी विशेषता-

एकाश्रये सवितक्रवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ- एक-परिपूर्ण श्रुतज्ञानीके आश्रित रहनेवाले प्रारम्भके दो ध्यान वितक्र और वीचारकर सहित हैं ॥ ४१ ॥

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ- किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचारसे सहित है।

वितक्र का लक्षण-

वितक्रः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ- श्रुतज्ञानको वितक्र कहते हैं।

वीचारका लक्षण-

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थ- अर्थ, व्यञ्जन और योगको पलटनाको वीचार कहते हैं।

अर्थसंक्रान्ति- अर्थ अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थको छोड़कर उसकी पर्यायको ध्यावे और पर्यायको छोड़कर द्रव्यको ध्यावे सो अर्थसंक्रान्ति है।

તત્પકે ભેદ

આશુ તપ

| આશુ તપ | પ્રાથીક્ષણ | વિનય | વૈયાપુલદ | સ્વાધ્યાય | બ્યુન્સર્ગ | ક્ષમન |
|--------------------|----------------|---------------------|-----------------------|-------------------------|-------------------------|------------|
| ૧ અનુશાસન | ૧ આલોચના | ૧ જ્ઞાનવિનય | ૧ આચાર્ય વૈયાવૃત્તય | ૧ યાચના | ૧ બાહ્યોપાધિ લ્યાગ | ૨ |
| ૨ અવમોદર્ય | ૨ પ્રતિક્રમણ | ૨ દર્શાનવિનય | ૨ ઉપાધ્યાય વૈયાવૃત્તય | ૨ પ્રચૂના | ૨ આખ્યોનતો- | |
| ૩ બુદ્ધિપરિસંખ્યાન | ૩ નદુભ્ય | ૩ ચારિત્ર વિનય | ૩ તપસ્વી વૈયાવૃત્તય | ૩ અનુષ્ઠાન | ૩ અધ્યાત્મા | પદ્ધિત્યાગ |
| ૪ રસ પરિસ્થાપના | ૪ વિવેક | ૪ ઠપચાર વિનય | ૪ શેષદ્ય વૈયાવૃત્તય | ૪ આજ્ઞાય | ૪ આજ્ઞાય | |
| ૫ વિવિક્ત | ૫ ક્ષુલ્સર્ગ | ૫ ગ્રલાન વૈયાવૃત્તય | ૫ ગ્રલાન વૈયાવૃત્તય | ૫ ધર્મોપદેશ | ૫ ધર્મોપદેશ | |
| શર્વાસન | ૬ તપ | ૬ ગણ વૈયાવૃત્તય | ૬ ગણ વૈયાવૃત્તય | ૬ ગણ વૈયાવૃત્તય | ૬ ગણ વૈયાવૃત્તય | |
| ૭ કાયાબદ્દેશ | ૭ છેદ | ૭ કુલ વૈયાવૃત્તય | ૭ કુલ વૈયાવૃત્તય | ૭ સંઘ વૈયાવૃત્તય | ૭ સંઘ વૈયાવૃત્તય | |
| ૮ પરિહાર | ૮ પરિહાર | ૮ સાધુ વૈયાવૃત્તય | ૮ સાધુ વૈયાવૃત્તય | ૮ પનોડું વૈયાવૃત્તય | ૮ પનોડું વૈયાવૃત્તય | |
| ૯ ઉપરથ્યાપન | | | | | | |
| આત્મધ્યાન | રોગધ્યાન | ધર્મધ્યાન | ધર્મધ્યાન | ધર્મધ્યાન | ધર્મધ્યાન | ધર્મધ્યાન |
| ૧ અનિષ્ટસંયોગજ | ૧ હિસાનન્દી | ૧ આજ્ઞાબિચ્ય | ૧ આજ્ઞાબિચ્ય | ૧ પ્રશ્નકલ્યાંચિતક | ૧ પ્રશ્નકલ્યાંચિતક | |
| ૨ ઇદ્યુક્તિયોગજ | ૨ સુષાનન્દી | ૨ અપાચબિચ્ય | ૨ અપાચબિચ્ય | ૨ એકલ્યાંચિતક | ૨ એકલ્યાંચિતક | |
| ૩ કેદનાજન્ય | ૩ કૌયોનન્દી | ૩ ચિપાકબિચ્ય | ૩ ચિપાકબિચ્ય | ૩ સુધ્યકિરણપ્રતિપાતિ | ૩ સુધ્યકિરણપ્રતિપાતિ | |
| ૪ નિદાન | ૪ પરિફ્રહનન્દી | ૪ સંસ્થાનવિચ્ય | ૪ સંસ્થાનવિચ્ય | ૪ ક્ષુદ્રતક્ષિયાનનિનિતી | ૪ ક્ષુદ્રતક્ષિયાનનિનિતી | |

व्यञ्जनसंक्रान्ति- श्रुतके एक वचनको छोड़कर अन्यका अवलम्बन करना और उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलम्बन करना सो व्यञ्जन-संक्रान्ति है।

योगसंक्रान्ति- काथयोगको छोड़कर मनोयोग या वचनयोगको ग्रहण करना और उसे छोड़कर किसी अन्य योगको ग्रहण करना सो योगसंक्रान्ति है ॥ ४४ ॥

पात्रकी वादेक्षः निर्गुणमेत्युत्तिवदावता वर्णन-
सम्यगदृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोह-
क्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना-
क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थ- १ सम्यगदृष्टि, २ पञ्चमगुणस्थानवती श्रावक, ३ विरति (मुनि), ४ अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला¹, ५ दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, ६ चारित्रमोहका उपशम करनेवाला, ७ उपशान्तमोहवाला, ८ क्षपकश्रेणि चढ़ता हुआ, ९ क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थानवाला) और १० जिनेन्द्र भगवान्, इन सबके परिणामोंकी विशुद्धताकी अधिकतात्से आयुकर्मको छोड़कर प्रतिसमय क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥ ४५ ॥

निर्गुण्य-साधुओंके भेद-

पुलाकवकुशकुशीलनिर्गुण्यस्नातकानिर्गुण्थाः ॥ ४६ ॥

अर्थ- पुलाक, वकुश, कुशील, निर्गुण्य और स्नातक ये पांच प्रकारके निर्गुण्य साधु हैं।

1. अनन्तानुबन्धीके परिमाणुओंका अप्रत्याग्व्यानावरणाति रूप बदलनेवाला।

पुलाक- जो उत्तरगुणोंकी भावनासे रहित हों तथा किसीक्षेत्र व कालमें मूलगुणोंमें भी दोष लगाकें उन्हे पुलाक कहते हैं।

वकुश- जो मूलगुणोंका निर्दोष पालन करते हों परन्तु अपने शरीर व उपकरणादिका शोभा बढ़ानेकी कुछ इच्छा रखते हों उन्हें वकुश कहते हैं।

कुशील- मुनि दो प्रकारके होते हैं- एक प्रतिसेवनाकुशील और दूसरे कषायकुशील।

प्रतिसेवनाकुशील- जिनके उपकरण तथा शरीरादिसे विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणकी परिपूर्णता है, परन्तु उत्तरगुणोंमें कुछ विराधना दोष हों, उन्हें प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं।

कषायकुशील- जिन्होंने संज्ञलनके मिलाए अन्य कषायोंको जीत लिया हो उन्हें कषायकुशील कहते हैं।

निर्गम्य- जिनका मोहकर्म क्षीण हो गया हो ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि निर्गम्य कहलाते हैं।

स्नातक- समस्त धातिया कर्मोंका नाश करनेवाले केवली भगवान् स्नातक कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

पुलाकादि मुनियोंमें विशेषता-

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थान-

विकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

अर्थ- उक्त मुनि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भेदरूपसे साध्य हैं। अर्थात् इन आठ अनुयोगोंके पुलाक आदि मुनियोंके विशेष भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भास्वाम्यविचित्रे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः ।

प्रश्नावली

- (१) संवरके कारण क्या हैं ?
- (२) गुम्फ और समितिमें क्या अन्तर हैं ?
- (३) परिषह किसलिए सहन करना चाहिये ? एकसाथ कितने परिषह हो सकते हैं ?
- (४) प्राथक्षित तपके भेद लक्षण सहित गिनाओ ?
- (५) क्या संवरके बिना भी निर्जग हो सकती हैं ?
- (६) शुद्धिध्यानके भेदोंका वर्णन कर उनके लक्षण बताओ और कौन भेद कब होता है ? उसका क्या कार्य है ? यह भी बताओ ।
- (७) पुलाक मुनि पूज्य हैं या अपूज्य ?
- (८) रौद्रध्यानों जीव मरकर कहाँ जाता हैं ?
- (९) आजकल ध्यान हो सकता है या नहीं ?
- (१०) ध्यानकी सिद्धिके उपयोगी कुछ नियम बताओ ।

दशम अध्याय

मोक्षतत्त्वका वर्णन

केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण ।

मोहक्षयाज्ञानदर्शनावरणः लालद्वयाच्युदेवलग् ॥१॥

अर्थ- मोहनीय कर्मका क्षय होनेसे अन्तर्मूहूर्तके लिये क्षीणकषय नामक बारहवाँ गुणस्थान पाकर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

भावार्थ- चार घातिया कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है।

नोट- घातिया कर्मोंमें सबसे पहले मोहनीय कर्मका क्षय होता है, इसलिये सूत्रमें गौरव होनेपर भी उसका पृथक् निर्देश किया है ॥ १ ॥

मोक्षके कारण और लक्षण-

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो

मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ- बन्धके कारणोंका अभाव तथा निर्जराके द्वारा ज्ञानावरणादि समस्त कर्मप्रकृतियोंका अत्यंत अभाव होना मोक्ष है।

भावार्थ- आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है और वह संवर तथा निर्जराके द्वारा प्राप्त होता है ॥ २ ॥

मोक्षमें कर्मोंके सिवाय और किसका अभाव होता है ?-

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ- मुक्त जीवमें औपशमिक आदि भावोंका तथा पारिणामिक

1. मोक्ष केवलज्ञानपूर्वक होता है, इसलिये मोक्षके पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन किया है।

भावोंमें से भव्यत्व भावका भी अभाव हो जाता है।

अन्यत्र केवल सम्प्रकृत्यज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४

अर्थ- केवल सम्प्रकृत्य, केवल ज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व इन भावोंको छोड़कर मोक्षमें अन्य भावोंका अभाव हो जाता है।

भावार्थ- मुक्त अवस्थामें जीवत्व नामक पारिणामिक भाव और कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाले आत्मिक भाव रहते हैं, शेषका अभाव हो जाता है।

नोट- जिन गुणोंका अनन्तज्ञानादिके साथ सहभाव सम्बन्ध है ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख आदि गुण भी पाये जाते हैं ॥ ४ ॥

कर्मोंका क्षय होनेके बाद-

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥

अर्थ- समस्त कर्मोंका क्षय होनेके बाद मुक्त जीव लोकके अन्त भाग पर्यात ऊपरको जाता है ॥ ५ ॥

मुक्त जीवके उर्ध्वगमनमें कारण- पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागति- परिणामाच्च ॥६॥

अर्थ- पूर्वप्रयोग-(पूर्वसंस्कार) से, सङ्गरहित होनेसे, कर्मबन्धनके नष्ट होनेसे और तथा गतिपरिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमनका स्वभाव होनेसे मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है ॥ ६ ॥

1. जिसके सम्प्रदर्शनादि प्राप्त होनेकी योग्यता हो उसे भव्य कहते हैं। जब सायदशनादि गुण पूर्ण रूपसे प्रकट हो चुकते हैं तब आत्मागें भव्यत्वका व्यवहार मिट जाता है।

उक्त चारों कारणोंके क्रमसे चार दृष्टिंत-

आविष्कुलालचक्रवद्वयपगतलेपालाबुवदेरण्ड- बीजवदग्रिशिखावच्च ॥ ७ ॥

अर्थ- (१) मुक्तजीव कुम्भकारके द्वारा घुमाये हुए चाककी तरह पूर्वप्रयोगसे ऊर्ध्वगमन करता हैं। अर्थात् जिस प्रकार कुम्भकार चाकको घुमाकर छोड़ देता है तब भी चक्र पहलेके भरे हुए बेगके नशसे घुमता रहता है, उसी प्रकार जीव भी संसार अवस्थामें मोक्षप्राप्तिके लिए ब्राह्मण अभ्यास करता था, मुक्त होनेपर यद्यपि उसका वह अभ्यास छूट जाता है, तथापि वह पहलेके अभ्याससे ऊपरको गमन करता है। (२) मुक्त जीव, दूर हो गया है लेप जिसको ऐसे शुद्धेकी तरह ऊपरको जाता है अर्थात् तुम्हेपर जबतक मिठीका लेप रहता है तबतक वह बजनदार होनेसे पानीमें ढूबा रहता है, पर ज्योंही उसकी मिठी गलकर दूर हो जाती है त्योंही वह पानीके ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार यह जीव जबतक कर्मलेपसे सहित होता है तबतक संसार समुद्रमें ढूबा रहता है पर ज्योंही इसका कर्मलेप दूर होता है त्योंही वह ऊपर उठ कर लोकके ऊपर पहूँच जाता है। (३) मुक्त जीव कर्मबन्धसे मुक्त होनेके कारण एरण्डके बीजके समान ऊपरको जाता है। अर्थात् एरण्ड वृक्षका सुखा बीज जब चटकता है तब उसकी मिंगी जिस प्रकार ऊपरको जाती है उसी प्रकार यह जीव कर्मोंके बन्धन दूर होनेपर ऊपरको जाता है। और (४) मुक्त जीव स्वभावसे ही अग्निकी शिखाकी तरह ऊर्ध्वगमन करता है अर्थात् जिस प्रकार हवाके अभावमें अग्नि (दीपक आदि) की शिखा ऊपरको जाती है उसी प्रकार कर्मोंके बिना यह जीव भी ऊपरको जाता है॥ ७ ॥

लोकाग्रके आगे नहीं जानेमें कारण-

धर्मस्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

अर्थ- धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे मुक्त जीव लोकग्रह भागके आगे अर्थात् अलोकाकाशमें नहीं जाते। क्योंकि जीव और पुद्गलोंका गमन धर्मद्रव्यकी सहायतासे ही होता है और अलोकाकाशमें धर्मद्रव्यका अभाव है' ॥ ८ ॥

मुक्त जीवोंमें भेद होनेके कारण-

**क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित
ज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः १९ ।**

अर्थ- क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगोंसे सिद्धोंमें भी भेद साधने योग्य हैं।

भावार्थ- क्षेत्र-कोई भरतक्षेत्रसे, कोई ऐसाक्षेत्रक्षेत्रसे और कोई विदेहक्षेत्रसे सिद्ध हुए हैं।^२ इस प्रकार क्षेत्रकी अपेक्षा सिद्धोंमें भेद होता है।

काल -कोई उत्सर्पिणी कालमें सिद्ध हुए हैं और कोई अवसर्पिणीकालमें।

गति-कोई सिद्ध गतिसे और कोई मनुष्य गतिसे सिद्ध हुए हैं।

१. लोकके अन्तमें ४५ लाख योजन विस्तारवाली सिद्धशिला है, मुक्त जीव उसीके ऊपर तनुवातवलयमें उत्तर जाते हैं। मोक्षमें मुक्त जीवोंके शिर एक बराबर स्थान पर रहते हैं। मुक्त जीवोंका सिद्धशिलासं सम्बन्ध नहीं रहता। २. संहरणकी अपेक्षा अद्वैत हीप मात्रसे गुक्त होते हैं। ३. अवसर्पिणीके सुषमादुषमा नामक तीसरे कालके अंतिम भागमें लेकर दूषमासुषमा नामक चौथे कालतक उत्पन्न हुए जीव ही मुक्त होते हैं। चौथे कालका उत्पन्न हुआ जीव पंचमकालमें मुक्त हो सकता है परं पंचमका पेशा हुआ पंचपमें मुक्त नहीं हो सकता।

लिंग-वास्तवमें ‘ अलिंगसे ही सिद्ध होते हैं अथवा इव्यपुलिंगसे ही सिद्ध होते हैं । भावलिंगकी अपेक्षा तीनों लिंगोंसे मुक्त हो सकते हैं ।

तीर्थ- कोई तीर्थकर होकर सिद्ध होते हैं, कोई बिना तीर्थकर हुए सिद्ध होते हैं । कोई तीर्थकरके कालमें सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थकरके मोक्ष चले जानेके बाद उनके तीर्थ (आग्राय) में सिद्ध होते हैं ।

चारित्र- चारित्रकी अपेक्षा कोई एकसे अथवा कोई भूतपूर्व ५ नयकी अपेक्षा दो तीन चारित्रसे सिद्ध हुए हैं ।

प्रत्येकबुद्धबोधित- कोई स्वयं संसारमें विरत होकर मोक्षको प्राप्त हुए हैं और कोई किसीके उपदेशसे ।

ज्ञान- कोई एक ही ज्ञानसे और कोई भूतपूर्व नयकी अपेक्षा दो तीन चार ज्ञानसे सिद्ध हुए हैं ।

अवगाहना- कोई उल्काष्ट अवगाहना-पांचसी पञ्चीस धनुषसे सिद्ध हुए हैं, कोई मथ्यम अवगाहनासे और कोई जघन्य अवगाहना-कुछ कम साढ़े तीन हाथसे सिद्ध हुए हैं ।

अन्तर- एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होनेका अन्तर जघन्यसे एक समय और उल्काष्टसे आठ समयका है तथा विरहकाल जघन्यसे एक समय और उल्काष्टसे छः माहका होता है ।

संख्या- जघन्यसे एक समयमें एक ही जीव सिद्ध होता है । और उल्काष्टसे १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं ।

अल्पबहुत्व- समुद्र आदि जल-क्षेत्रोंसे थोड़े सिद्ध होते हैं और विदेहादि क्षेत्रोंसे अधिक सिद्ध होते हैं । इस प्रकार सिद्ध जीवोंमें बाह्य निमिज्जकी अपेक्षा भेदकी कल्पना की गई है । वास्तवमें आत्मीय गुणोंकी अपेक्षा कुछ भी भेद नहीं रहता ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमद्भास्वामिविचिते मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः ॥

4. भाववेदका उदय नवम गुणस्थान तक रहता है इसलिए मोक्ष अवेद दशामें ही होता है । 5. भूतकालके बातके बतामानमें कहनेशाला ।

दोधक दृत-

अक्षरमात्रपदस्वरहीनंव्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् ।

साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं कोन विमुह्यति

शास्त्रसमुद्रे ॥ १ ॥

अर्थ- इस शास्त्रमें भी कहीं अङ्गराया एव या उत्तर रहित हो तथा व्यञ्जन सन्धिवरेफसे रहित हो तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करें। क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्रमें कौन पुरुष मोहको प्राप्त नहीं होता अर्थात् भूल नहीं करता ॥ १ ॥

अनुष्टुप्-

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थं पठिते सति ।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपूङ्क्वैः ॥२ ॥

अर्थ- दश अध्यायोंमें विभक्त इस तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) के पाठ करने तथा परिच्छेदन अर्थात् मननसे श्रेष्ठ मुनियोंने एक उपवासका फल कहा है।

भावार्थ- जो पुरुष भावपूर्वक पूर्ण मोक्षशास्त्रका पाठ करता है और उसका चिन्तन करता है उसे एक उपवासका फल लगता है । ॥ २ ॥

१. के दोनों रूपोंके मूल ग्रन्थकातांक बनाये हुए नहीं हैं।

प्रश्नावली-

- (१) धारिया कर्मोंमें सबसे पहले किसका क्षय होता है ?
- (२) क्या केवलज्ञानके बीच भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है ?
- (३) मोक्षका क्या लक्षण है ?
- (४) "कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो भोक्षः" इस वाक्यमें विप्र शब्दका क्या अर्थ होता है ?
- (५) मोक्षमें जीवोंका आकार कैसा होता है ?
- (६) जबकि भव्यत्वभाव पारिणामिक भाव है तब सिद्ध अवस्थामें उसका अभाव क्यों हो जाता है ? यदि अभव्यत्वका अभाव होता है तो जीवत्वका भी अभाव क्यों नहीं होता ?
- (७) मुक्त जीवोंमें भेद किस प्रकार होता है ?
- (८) जीवका ऊर्ध्वगमन क्यों होता है ? उदाहरण सहित बतलाओ।
- (९) मुक्त जीव सिद्ध लोकसे आगे क्यों नहीं जाते ?
- (१०) मुक्त जीवोंको मध्य लोकसे मोक्षगमन तक पहुँचनेमें कितना समय लगता है ?
- (११) "जो जीव मोक्षमें रहते हैं उन्हें मुक्त कहते हैं" यदि मुक्त जीवोंका यह लक्षण माना जावे तो क्या हानि होगी ?

परिशिष्ट-

शंका-समाधान

(ले:- पं. फूलचन्दजी जैन मिहांतशास्त्री, सम्पादक, जयधवला)

पाठशालाओंमें तत्त्वार्थसूत्र पढ़ाया जाता है। इसमें उपयोगी सब विषयोंका संकलन है। हमारे पित्र पंडित पन्नालालजी जैन साहित्याचार्यका आग्रह रहा कि इसके परिशिष्टमें कुछ ऐसे प्रश्नोत्तरोंका संकलन कर दिया जाये जिससे अध्यापक व स्वाध्याय-प्रेमी सबको लाभ हो। यह सोचकर हम दोनोंने कुछ प्रश्न तैयार किए थे उन्हींके अनुसार वह परिशिष्ट लिखा दिया है। इसमें प्रत्येक अध्यायके क्रमसे प्रश्न व उनके उत्तर संकलित किए गये हैं।

पहला अध्याय-

[१] शंका- किस घोग्यताके होनेपर जीवोंको सम्यगदर्शन प्राप्त हो सकता है ?

[१] समाधान-सम्यगदर्शन तीन हैं-ओपशामिक, क्षायिक और क्षायोपशामिक। इनमेंसे पहले ओपशामिक सम्यगदर्शनकी अपेक्षा विवार करते हैं। ऐसा नियम है कि संसारमें रहनेका काल अर्थ पुद्गल परिवर्तन शेष रह जानेपर ओपशामिक सम्यगदर्शन हो सकता है। यह एक काललब्धि है। इस काललब्धिके प्राप्त हो जानेपर भी उसी जीवके ओपशामिक सम्यगदर्शन उत्पन्न होता है जो संज्ञी, पर्याप्त साकार उपयोगसे युक्त और निर्मल परिणामवाला होता है, अन्यके नहीं। लेश्याओंके विषयमें यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यकोंके वर्तमान शुभ लेश्याएँ होनी चाहिए। किन्तु देव और नारकियोंके जहां जो लेश्या बतलाई है उसीके रहते हुए ओपशामिक सम्यगदर्शनकी प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार गोत्रके विषयमें भी जानना चाहिए।

अर्थात् जिस गतिमें जो उच्च या नीच गोत्र सम्भव हैं। उसके रहने हुए औपशमिक सम्यादर्शनकी प्राप्ति हो जाती हैं। यह भवनिमित्तक दूसरी काललब्धि है। तीसरी काललब्धिका सम्बन्ध कर्मोंकी स्थितिसे है। ऐसा नियम है कि जिसके कर्मोंकी स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरसे अधिक होती है उसके प्रथमोपशम सम्यादर्शनकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किन्तु जिसके बच्चको प्राप्त होनेवाले कर्मोंकी स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण प्राप्त होती है और सज्जामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार साहर कम अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर शेष रह जाती है वही प्रथमोपशम सम्यादर्शनको प्राप्त होता है। चौथी काललब्धिका सम्बन्ध कर्मोंके अनुभागसे है। जिसके अप्रशस्त कर्मोंका अनुभाग द्विस्थानगत है और प्रशस्त कर्मोंका अनुभाग चतुर्थस्थानगत है और उसीके प्रथमोपशम सम्यादर्शन प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार प्रकृति या प्रदेशगत और भी विशेषताएँ हैं जिन्हें लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें जान लेना चाहिए। उनमेंसे एक दो बातोंका यहाँ उल्लेख किये देते हैं। जिसके आहारक शरीर और आहारक आंगोपांगकी सज्जा होती है उसे प्रथमोपशम सम्यादर्शन प्राप्त नहीं होता।

बात यह है कि तेरह उद्वेलना प्रकृतियोंमें इन दोनोंका भी समावेश है। यह मानी हुई बात है कि वेदक कालके भीतर प्रथमोपशम सम्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। किन्तु इन दोनों प्रकृतियोंकी उद्वेलनामें यदि पल्यका असंख्यातवां भाव काल लगता है तो भी वह वेदकालसे कम है। अतः सिद्ध हुआ है कि इन दोनों प्रकृतियोंकी सज्जा रहते हुए प्रथमोपशम सम्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। वेदक कालके विषयमें यह बतलाया है कि सम्यकालसे चुत हुआ मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्यायमें परिभ्रमण करता रहता है, वह संज्ञी यंचेन्द्रिय पर्यायको प्राप्त करके प्रथमोपशम सम्यादर्शनको

तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसके सम्यक्त्व और सम्यग्मिष्यात्व इन दो प्रकृतियोंकी स्थिति एक सागरसे कम शेष रह जाय। यदि इस जीवके एक सागरसे अधिक स्थिति शेष है तो उसे नियमसे वेदक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त हो सकता है। ऐसे जीवके तबतक वेदकाल माना गया है और वांदे सम्बन्धमें च्युत हुआ जीव विकलत्रय पर्यायमें परिभ्रमण करता रहता हैं, तो उसके सम्यक्त्व और सम्यग्मिष्यात्वकी सागर पृथक्त्वकी स्थितिके शेष रहने तक वेदक काल होता है। यह जीव इन दोनों प्रकृतियोंकी इतनी स्थितिके शेष रहने तक यदि सम्यग्दर्शनको प्राप्त करे तो नियमसे वेदक सम्यक्त्वकी या सम्यग्मिष्यात्व सहित दोनोंकी उद्देलना हो जाने पर सर्वप्रथम जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ही प्राप्त करता है। इतने विवेचनसे निम्न बातें कलित हुईं।

(१) अभ्यव्यक्ते सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति सम्भव नहीं। भव्यके भी अर्धपुद्गल परिवर्तन कालके शेष रहनेपर ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है।

(२) औपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेवाला जीव संजी पर्याप्ति, साकार उपयोगवाला, विशुद्ध लेश्यावाला और पर्याप्त योगवाला आदि होता है।

(३) वन्धनेवाले कर्मोंकी स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरसे सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार सागर अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरसे अधिक नहीं होती। अनुभाग भी अशुभ कर्मोंका द्विस्थानगत और शुभ कर्मोंका चतुर्स्थानगत होता है।

(४) अनादि मिथ्याहृषि जीव सर्व प्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ही प्राप्त करता है। सादि मिथ्याहृषियोंमें जिसके मोहनीयका २६ या २७ प्रकृतियोंकी सत्ता है वह सर्वप्रथम

प्रथमोपशम सम्यकत्वको ही प्राप्त होता है। किन्तु जिसके २८ प्रकृतियोंकी सत्ता है वह वेदक कालके भीतर सर्वप्रथम वेदक सम्यकत्वको ही प्राप्त होता है। हाँ, वेदक कालके व्यतीत हो जाने पर वह भी सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यकत्वको ही प्राप्त होता है।

(५) जिसके आहारक द्विककी सत्ता है उसे प्रथमोपशम सम्यकत्वकी प्राप्ति सम्भव नहीं।

(६) कषाययाहुइमें एक नियम यह भी बतलाया है कि जिस अनादि मिथ्याहृष्टिको सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यकत्व प्राप्त होता है वह उक्त सम्यकत्वसे च्युत होकर नियमसे मिथ्यात्वमें ही जाता है, अन्यत्र नहीं। अन्तर्व जाना इसके बहात् ही गम्भीर है।

औपशमिक सम्यगदर्शनके दो भेद हैं— प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमेंसे प्रथमोपशमके प्राप्त करनेमें जिस योग्यताकी आवश्यकता है इसका उल्लेख ऊपर किया ही है। अब रहा द्वितीयोपशम सम्यकत्व, सो इसकी प्राप्ति वेदक सम्यग्हृष्टिके सातिशय अष्टमत गुणस्थानमें ही होती है यह जीव अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना करके दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंकी उपशमना करता है तब यह द्वितीयोपशम सम्यकत्व कहलाता है। आगमोंमें एक ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि प्रथमोपशम सम्यगदर्शिके भी अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना हो सकती है। यह किया चारों गतिका जीव करता है। किंतु यह सम्यगदर्शन प्रथमोपशम सम्यकत्वका ही अवान्तर भेदतुल्य है। ऊपर जिस द्वितीयोपशम सम्यकत्वका उल्लेख किया है वह इससे भिन्न है।

लक्ष्मिसारमें प्रथमोपशम सम्यकत्व प्राप्त होनेके पहले पांच लक्ष्मियां बतलाई है उनका स्वरूप निष्ठ प्रकार है—

(१) क्षयोपशमलविधि-अशुभ कर्मोंकी अनुभाग शक्तिके प्रति समय अनन्तगुणी हीन न होकर उदीरणाको प्राप्त होना क्षयोपशमलविधि है। इससे उत्तरोत्तर परिणाम निर्मल होते जाते हैं।

(२) जिन परिणामोंसे साता आदि प्रशस्त प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है उसे विशुद्धलविधि कहते हैं। प्रथम लविधि इस लविधिकी प्राप्तिमें कारण है।

(३) छह द्रव्य और नीं पदार्थोंके ज्ञाता गुरुके मिलने पर उनके द्वारा उपदेश यद्ये पदार्थके धारण करनेको देशनालविधि कहते हैं।

(४) आयुको छोड़कर शेष सब कर्मोंकी स्थितिको अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मोंमेंसे घातिया कर्मोंके अनुभागको उन और वह उन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मोंके अनुभागको नींम और काँजी इन दो स्थानगत कर देना प्रायोग्यलविधि है।

यहले हमने जितनी विशेषताएं बतलाई हैं उन सबका इन चार लविधियोंमें अन्तर्भूत हो जाता है। पांचवीं करणलविधि है। करण का अर्थ परिणाम है। अर्थात् वे परिणाम जो नियमसे प्रथमोपशम सम्यादर्शनकी प्राप्तिमें कारण है उनकी प्राप्तिको करणलविधि कहते हैं। यह लविधि सम्यादर्शनको प्राप्त करनेवाले जीवके ही होती है। इसके तीन भेद हैं जिनका विस्तृत खुलासा लविधिसारमें किया है। उपर्युक्त लविधियोंके साथ इस लविधिके होनेपर नियमसे सम्यादर्शन होता है। संक्षेपके कारण यहाँ हमने प्रत्येक लविधिगत विशेषताका वर्णन नहीं किया है।

(२) क्षयोपशामिक सम्बन्धका दूसरा नाम वेदक सम्बन्ध है इसे मिथ्याहृष्टि और सम्यादृष्टि दोनो उत्पन्न कर सकते हैं। मिथ्याहृष्टियोंमें जो वेदककालके भीतर स्थित है, संज्ञी प्रवास और

विशुद्ध परिणामवाला है उसीके बेदक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। कर्मोंकी स्थिति इसके अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर होनी चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। अधिक भी हो सकती है जो प्रत्येक कर्मकी अपने अपने उत्कृष्ट स्थिति सज्जासे अन्तर्भूती कम तक हो सकती है। हाँ, सम्यादर्शनकी प्राप्तिके समय इसके बन्ध अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरका ही होगा। सम्याद्विष्टमें प्रथमोपशम सम्याद्विष्ट या द्वितीयोपशम सम्याद्विष्ट जीवके सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो जानेपर बेदक सम्यक्त्व होता है। जैन शतक आदिमें क्षायोपशमिकके तीन और बेदकके चार इस प्रकार सात भेद लिखे हैं इनमेंसे बेदकके बार भेद सही हैं। तथा क्षायोपशमिकके तीन भेदोंमेंसे अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना और दर्शनमोहनीय तीनके उपशमसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह औपशमिक ही है, जिसका उल्लेख औपशमिक सम्यक्त्वके प्रकरणमें कर आये हैं। अब रहे शेष दो भेद भी वे नहीं बनते, क्योंकि औपशमिक सम्याद्विष्ट क्षायिक सम्यक्त्वको नहीं उत्पन्न करता है ऐसा नियम है और इसके बीना ये भेद बन नहीं सकते। इसका विशेष खुलासा हम-सर्वार्थसिद्धि दोकामें करनेवाले हैं। विस्तारभूतसे यहाँ नहीं लिखा।

(३) क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवके बेदक सम्यक्त्वका होना आवश्यक है। इसकी उत्पत्ति के बली और श्रुतके बलीके पादमूलमें कर्मभूमिज मनुष्यके ही होती है। जिससे तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध करके उस भवमें क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं किया उसके अन्तिम भवमें अपने निमित्तसे भी क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है, इस प्रकार किस योग्यताके होने पर जीवके कौनसा सम्यदर्शन उत्पन्न होता है इसका विचार किया।

[२] शंका-सम्यगदर्शनके कितने भेद हैं ?

[२] समाधान-सामाच्यसे सम्यगदर्शन एक है। उत्पत्तिके निमित्तोंके वर्गीकरणकी उपेक्षा सम्यगदर्शनके दो भेद हैं-निसर्गज और अधिगमज। निसर्गका अर्थ स्वभाव है और अधिगमका अर्थ परोपदेश। तात्पर्य यह है कि जो सम्यगदर्शन परोपदेशकी अपेक्षाके बिना उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यगदर्शन है और जो सम्यगदर्शन परोपदेशपूर्वक उत्पन्न होता है वह अधिगमज सम्यगदर्शन है। कर्मोंके उपर्णमादिककी अपेक्षा सम्यगदर्शनके तीन भेद हैं-औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जो दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंके अंतकरण उपर्णमसे और अनंतानुबंधी चारके उपर्णम या विसंयोजनासे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक सम्यगदर्शन कहते हैं। जो पूर्वोक्त सातों प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक सम्यगदर्शन कहते हैं, तथा जो सम्यकत्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यगदर्शन कहते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात, अद्वान करनेवालोंकी अपेक्षा असंख्यात और अद्वान करनेयोग्य पदार्थोंकी अपेक्षा अनंत भेद हैं। तब भी सम्यगदर्शनके दश भेदोंका सर्वत्र मुख्यतासे उल्लेख मिलता है। जो ये हैं आज्ञा सम्यकत्व, मार्ग सम्यकत्व, उपदेश सम्यकत्व, सूत्र सम्यकत्व, बीज सम्यकत्व संक्षेप सम्यकत्व, विस्तार सम्यकत्व, अर्थ सम्यकत्व, अवगाढ़ सम्यकत्व और परमावगाढ़ सम्यकत्व। जो सम्यकत्व सर्वत्र जिनदेवके प्रवचनके निमित्तसे होता है उसे आज्ञा सम्यकत्व कहते हैं। जो सम्यकत्व निःसंग मोक्षमार्गके श्रवणमात्रसे उत्पन्न होता है उसे मार्ग सम्यकत्व कहते हैं। जो सम्यकत्व तीर्थीकर बलदेव आदि के शुभ चरित्र सुननेसे होता है उसे उपदेश सम्यकत्व कहते हैं। दीक्षाकी पर्यादाके प्रस्तुपण करनेवाले आचारसूत्रके सुनने मात्रसे जो सम्यकत्व होता है उसे सूत्र सम्यकत्व कहते हैं। बीजपदके ग्रहणसे जो सूक्ष्म

अर्थका अद्भान होता है उसे संक्षेप सम्बन्ध कहते हैं। जीवादि पदार्थोंका विस्तारसे ज्ञान होनेसे जो अद्भान होता है उसे विस्तार सम्बन्ध कहते हैं। वचनोंके विस्तारके बिना अर्थके ग्रहण होनेसे जो अद्भान होता है उसे अर्थ सम्बन्ध कहते हैं। आचारांग आदि बारह अंगोंके मनसे जिसकी श्रद्धा हड़ हो गई है उसे अवगाढ़ सम्बन्ध कहते हैं। परमावधि ज्ञानी और केवलज्ञानीके अद्भानको परमावगाढ़ सम्बन्ध कहते हैं। इसी प्रकार आगमके अनुसार सम्बादर्शनके यथायोग्य भेद जानना चाहिए।

[३] शंका-निष्ठेप व्यवस्था किस प्रकार घटित होती है ?

[३] समाधान-लोकमें जितना शब्द व्यवहार या तदाभित व्यवहार होता है वह कहाँ किस अपेक्षासे किया जा रहा है इस गुणोंको सुलझाना निष्ठेप व्यवस्थाका काम है। निष्ठेपके मुख्यतः चार भेद हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। आगे इस व्यवस्थाको कर्मकी अपेक्षा घटित करके बतलाते हैं। लोकमें गुणादिककी अपेक्षान करके जितना संज्ञा व्यवहार चालू है वह सब नाम निष्ठेपका विषय है। गुणादिककी अपेक्षा जब यह व्यवहार किया जाता है तो वह नाम निष्ठेपका विषय न होकर अन्य निष्ठेपका विषय होता है। जैसे आगममें मनुष्यनी यह शब्द स्त्रीधर्मकी प्रधानतासे आया है अतः इसका भावनिष्ठेपमें अंतर्भाव होता है। और स्त्रीवेदका नाश हो जानेके पश्चात् मनुष्यनी शब्दका व्यवहार नामनिष्ठेपका विषय हो जाता है। तो भी इसका प्रयोजक मूत्रप्रज्ञापन नय है इसलिये आगे भी यह व्यवहार चालू रहता है। पूर्व व्यवहारसे इसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं होता। इससे स्पष्ट हुआ कि नाम निष्ठेपमें संज्ञाकी प्रधानता है गुणादिककी नहीं, अतः जिस किसी चेतन या अचेतन पदार्थका

कर्म यह नाम रखना नामकर्म है। स्थापना निष्ठेषका व्यवहार प्रतिनिधि के स्थानमें होता है अतः तदाकार या अतदाकार वस्तुमें यह 'कर्म' इस प्रकारको स्थापना करना स्थापना कर्म है। द्रव्यकर्म के दो भेद हैं- आगम द्रव्यकर्म और नोआगम द्रव्यकर्म। जो कर्म विषयक शास्त्रका ज्ञाता है किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित है उसे आगम द्रव्यकर्म कहते हैं। नोआगम द्रव्यकर्मके तीन भेद हैं- ज्ञायकशारीर, भावी और तद्वयतिरिक्त।

ज्ञायकशारीरमें कर्मविषयक शास्त्रके ज्ञाताका भूत भविष्यत् और भावी इन तीनो प्रकारके शारीरका ग्रहण किया है। जो भविष्यत् कालमें कर्मविषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा उसे भावी नोआगम द्रव्यकर्म कहते हैं। तद्वयतिरिक्तके दो भेद हैं- कर्मतद्वयतिरिक्त नोआगम द्रव्यकर्म और नोकर्मतद्वयतिरिक्त नोआगम द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको कर्मतद्वयतिरिक्त नोआगम द्रव्यकर्म कहते हैं। और इन कर्मोंके उदयमें जिसकी सहायता मिलती है उन सहकारी कारणोंको नोकर्मतद्वयतिरिक्त नोआगम द्रव्यकर्म कहते हैं। भावनिष्ठेषके दो भेद हैं- आगम भावनिष्ठेष और नोआगम भावनिष्ठेष। इनमें से जो कर्मविषयक शास्त्रको जानता है और वर्तमानमें उसके उपयोगसे युक्त है उसे कर्म आगम भावनिष्ठेष कहते हैं। तथा जो जीव कर्मोंके फलको खोग रहा है उसे कर्मनोआगम भावनिष्ठेष कहते हैं। कर्म दो प्रकारके हैं- जीवविषयकी और पुद्गलविषयकी। पुद्गलविषयकी कर्मोंका फल जीवमें नहीं होता इसलिये इन कर्मोंका नोआगम भावनिष्ठेष नहीं होता। किन्तु जीवविषयकी कर्मोंका फल जीवमें होता है इसलिये इनका नोआगम भावनिष्ठेष होता है। संसारी जीवके जितने भेद किये गये हैं नोआगम भावनिष्ठेषकी अपेक्षा ही किये गये हैं।

[४] शंका-मनिज्ञानके मति आदि नामान्तर है या प्रत्येक शब्दका जो अर्थ वह यहां लिया गया है ?

[४] समाधान-षट्खण्डागमके कर्मप्रकृति अनुयोगद्वारमें मतिज्ञानावरण कर्मके कथन करनेके पश्चात् एक सूत्र आया है जिसका भाव है कि 'अब आभिनिबोधिक ज्ञानकी अन्य प्रकृपणा करते हैं' इसका खुलासा करते हुये वीरसेनस्वामीने लिखा है कि अब आभिनिबोधिक ज्ञानके पर्यायवाची शब्दोकी प्रकृपण करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि मति आदिक शब्द मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम है। यहा जो प्रत्येक शब्दका अलग अलग व्युत्पत्त्यर्थ लेकर मतिसे वर्तमानज्ञान, स्मृतिसे स्मरणज्ञान, संज्ञाके प्रत्यभिज्ञान, चिन्तासे तर्कज्ञान और आभिनिबोधसे अनुमानज्ञान लिया जाता है यह ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा माननेपर ये पर्यायवाची नाम नहीं रहते। सबोर्धिसिद्धिमें जो इन शब्दोंका 'मननं पतिः' इत्यादि संपर्कसे विग्रह किया है उसका प्रयोजन केवल शब्दसिद्धि मात्र है, उससे अलग अलग अर्थ लेना ठीक नहीं। जैसे इन्ह, शक्र और पुरन्दर इनका व्युत्पत्त्यर्थ अलग अलग है तो भी उनसे एक देवराज रूप अर्थका ही बोध होता है। उसी प्रकार प्रकृतिमें भी जानना चाहिये। समभिरुद्ध नव एक शब्दको एक ही अर्थमें स्वीकार करता है, इस दृष्टिसे यदि विचार करके मति आदि शब्दोंका अलग अलग अर्थ लिया जाता है तो भी कोई आपत्ति नहीं। किन्तु मतिज्ञानकी मर्यादाके अन्दर ही इन शब्दोंका अर्थ घटित करना चाहिये। यहां इतना विशेष जानना कि आगम ग्रन्थोमें आभिनिबोधिक ज्ञान यह नाम मुख्यतासे आया है और उसके संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये चार पर्यायवाची नाम आये हैं। वहां इन नामोंका क्रम वह है जो हमने उपर दिया है।

[५] शंका- दर्शनका क्या स्वरूप है ?

[५] समाधान-आगममें सामान्य ग्रहणको दर्शन बतलाया है। इसकी व्याख्या करते हुए वीरसेनस्वामीने सामान्य शब्दका अर्थ आत्मा किया है। वे लिखते हैं कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। इसलिए दर्शनके द्वारा केवल सामान्यका और ज्ञानके द्वारा केवल विशेषका प्रहरण नहीं हो सकता। किन्तु दर्शन और ज्ञान दोनोंके द्वारा सामान्य विशेषात्मक वस्तुका ही ग्रहण होता है। इससे यह निश्चित हुआ कि जब आत्मा किसी पदार्थको ग्रहण करनेके समुख होता है तब सर्व प्रथम जो अनन्तर्भुत उपयोग होता है उसे दर्शन कहते हैं और बहिर्भव पदार्थके उपयोगको ज्ञान कहते हैं।

[६] शंका-व्यंजन और अर्थमें क्या भेद है ?

[६] समाधान-वीरसेनस्वामीने प्रकृति अनुयोगद्वारमें अर्थव्यग्रह और व्यंजनावग्रहका जो लक्षण लिखा है उससे ज्ञान होता है कि जो पदार्थ इंद्रियोंसे सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह इंद्रियों द्वारा ग्रहण करनेकी प्रथम अवस्थामें व्यंजन कहलाता है। तथा जो पदार्थ इंद्रियोंसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह, और जो पदार्थ इंद्रियोंसे सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह भी आद्य ग्रहणके पश्चात् अर्थ कहलाता है। सर्वार्थसिद्धिमें चक्षु आदि इंद्रियोंके विषयको अर्थ और अव्यक्त शब्दादिको व्यंजन कहा है। यहां व्यंजनावग्रह और अर्थव्यग्रहको दृष्टित्रै द्वारा समझाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार नया मिट्ठीका सकोता एकबार दो तीन बूँदोंके डालनेसे गीला नहीं होता है किंतु पुनः पुनः सींचनेसे वह गीला हो जाता है उसी प्रकार ओत्र आदि इंद्रियों द्वारा दो तीन आदि समयोंमें ग्रहण किये शब्दादि विषय व्यक्त नहीं होते हैं किंतु पुनः पुनः अवग्रह होनेपर वे व्यक्त हो जाते हैं। व्यंजनावग्रह और अर्थव्यग्रहमें यही अन्तर है। किंतु

बीरसेनस्वामी “ अस्पष्ट ग्रहणको व्यंजनावग्रह और स्पष्ट ग्रहणको अर्थविग्रह कहते हैं ” इस मतका खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि यदि अस्पष्ट ग्रहणको व्यंजनावग्रह माना जाय तो चक्षु इन्द्रियोंके द्वारा अस्पष्ट ग्रहण होनेपर उसे भी व्यंजनावग्रहका प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु चक्षु इन्द्रियोंसे व्यंजनावग्रह होता नहीं ऐसा सूत्र बच्चने है। अतः प्राप्त अर्थका ग्रहण व्यंजनावग्रह और अप्राप्त अर्थका ग्रहण अर्थविग्रह है यह निष्कर्ष निकलता है। इस परसे यह फलित होता है कि चक्षु और मनसे केवल अप्राप्त अर्थका ही ग्रहण होता है, किंतु शेष चार इन्द्रियां प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके अर्थका ग्रहण करती हैं।

बीरसेनस्वामी लिखते हैं कि यदि ऐसा न माना जाय तो स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका विषय १ योजन आदि बतलाया है वह नहीं बनता है। क्योंकि ये स्पर्शन आदि इन्द्रियां दूरके पदार्थको नहीं जानती, केवल स्पष्ट पदार्थको ही ग्रहण करती है तो इनका विषय स्पष्ट ही लिखना था। परन्तु ऐसा न करके अलग अलग इंद्रियबाले जीवोंके इनका विषय परिणाम जबकि अलग अलग बतलाया है इससे ज्ञान होता है कि ये स्पर्शनादि इंद्रियां प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानती हैं।

[७] शंका- चक्षुइन्द्रिय अप्राप्यकारी क्यों है ?

[७] समाधान- एक तो चक्षुइन्द्रिय स्पष्ट अंजन आदिको ग्रहण नहीं करती है। दूसरे भिन्न देशमें स्थित दो पदार्थोंका इसके द्वारा एकसाथ ग्रहण होता है। तीसरे चक्षुइन्द्रियके विषयमें क्षेत्रभेद प्रतीत होता है। जब कोई चक्षुइन्द्रियके द्वारा किसी पदार्थको ग्रहण करता है वह उससे कितनी दूर है यह स्पष्ट मालूम होता है इससे ज्ञात होता है कि चक्षुइन्द्रिय अप्राप्यकारी है।

[८] शंका-अङ्ग और पूर्वोंका क्या विषय है ?

[८] समाधान- आगममें अङ्गोंके बारह भेद किये हैं- आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञात, ज्ञातुर्धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृदश, अनुत्तरोपणादिक दश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और हष्टिप्रवाद। आचारांगमें मुनियोंके आचारका वर्णन है। सूत्रकृतांगमें ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्म क्रियाका व्याख्यान है। स्थानांगमें पदार्थोंके एकादिक भेदोंका वर्णन है। क्रम यह है कि एक स्थानका वर्णन करते समय सबके एकसाथ भेद बतलाये हैं। दो स्थानका वर्णन करते समय सबके दो दो भेद बतलाये हैं। इसी प्रकार आगे समझना। समवायांगमें सब पदार्थोंके समवायका कथन है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा समवाय चार प्रकारका है। धर्म, अधर्म लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं यह द्रव्य समवाय है, सोभान्तक नरक, मानुषलोक, ऋजुविमान और सिद्धक्षेत्र समान हैं, यह क्षेत्र समवाय है। एक समय दूसरे समयके बराबर है। एक मुहूर्त दूसरे मुहूर्तके बराबर है यह काल समवाय है। केवलज्ञान केवलदर्शनके समान है यह भाव समवाय है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना। व्याख्याप्रज्ञतिमें क्या जीव है इत्यादि प्रश्नोंका समाधान किया है। ज्ञातुर्धर्मकथामें तीर्थकरके धर्मोपदेश, अनेक प्रकारकी कथाओं और उपकथाओंका व्याख्यान किया है। उपासकाध्ययनमें ग्यारह प्रकारके श्रावकोंकी वर्याका वर्णन है। अन्तःकृतदशमें एक एक तीर्थकरके समय दारण उपसर्गोंको सहकर निर्बाणको प्राप्त हुए दस दस मुनियोंका वर्णन है। अनुत्तरोपणादिक दशमें एक एक तीर्थकूरके समयमें दारण उपसर्गोंको सहकर अनुत्तर विमानको प्राप्त हुए दस दस मुनियोंका वर्णन है। प्रश्नव्याकरणमें आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगनी और निर्वेदनी इन चार प्रकारकी कथाओंका वर्णन है।

त्रेसठ प्रकारके मर्तोंका निरूपण करके उनका निप्रह किया गया है। इस अंगके पांच भेद हैं- परिकर्म सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चुलिका। परिकर्मके पांच भेद हैं- चन्द्रप्रज्ञमि, सूर्यप्रज्ञमि, ज्वृद्धीप्रज्ञमि, द्वीपसागरप्रज्ञमि और व्याख्याप्रज्ञमि। चन्द्रप्रज्ञमिमें चन्द्रमाकी आयु, अवगाहना और उसके परिवार आदिका विस्तृत विवेचन है।

जम्बूद्धीप्रज्ञमिमें जम्बूद्धीपमें रहनेवाले मनुष्य आदिका तथा कुलाचल, नदी और तालाब आदिका विस्तृत वर्णन है। द्वीपसागरप्रज्ञमिमें सब द्वीपों और समुद्रोंका तथा उनकी अवान्तर रचना आदिका वर्णन है। व्याख्याप्रज्ञमिमें रूपी अरूपी द्रव्योंका और भव्य तथा अभव्यादिका वर्णन है। हष्टिवादका जो दूसरा भेद सूत्र है उसमें आत्मा अबन्धक है अभेदक है तथा त्रैराशिक नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रथानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवादका वर्णन है। हष्टिवादके तीसरे भेद प्रथमानुयोगमें शलाका पुरुषों व पुण्य पुरुषोंके चरित्रका वर्णन है। हष्टिवादके चौथे भेद यूर्वगतके चौदह भेद हैं- उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, बीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुप्रवाद, कल्याण प्राणावाय, क्रियाविशाल, और लोकविन्दुभार। इनमेंसे उत्पाद पूर्वमें सब द्रव्योंके उत्पाद, व्यय और धौव्य रूप अवस्थाओंका विचार किया है। अग्रायणीय पूर्वमें सब अङ्गोंके प्रथानभूत विषयका वर्णन है। बीर्यानुवादमें आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य और क्षेत्रवीर्य आदिका वर्णन है। अस्तिनास्तिप्रवादमें अस्तित्व और नास्तित्वकी प्रमुखतासे जीवादि पदार्थोंका वर्णन है। ज्ञानप्रवादमें पांच ज्ञान और तीन अङ्गोंका वर्णन है। सत्यप्रवादमें वचनगुणि, वचनके संस्कारके कारण उसके प्रयोग और बाह्य प्रकारकी भाषा आदिका कथन है। आत्मप्रवादमें आत्मा ज्ञाता है, विष्णु है, भोक्ता है इत्यादि रूपसे विस्तारके साथ आत्मतत्त्वका विवेचन किया है। कर्मप्रवादमें आठ प्रकारके कर्मोंका वर्णन है। प्रत्याख्यान पूर्वमें सब प्रकारके प्रत्याख्यानका, उपासकोंकी

विधिका और समिति तीन गुणि आदिका वर्णन है। विद्यानुवादमें अंगुष्ठसेना आदि सातसौ छोटी विद्याओंका रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओंका और अष्टांग महानिमित्तोंका वर्णन है। अंतरीक्ष, भौम, अङ्ग, स्वर, स्वप्र, लक्षण, व्यंजन और छिन्न ये आठ महानिमित्त हैं, इनको देखकर जो शुभाशुभका ज्ञान होता है वह निमित्त ज्ञान है। कल्याण पूर्वमें सूर्य, चंद्रमा नक्षत्र और तारामणोंके गमन, उपपाद, गतिफल आदिका तथा शलाका पुरुषोंके गर्भावतरण आदि कल्याणकोंका कथन है। प्राणावाय पूर्वमें अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म जांगुलिप्रकर्म और प्राणाधानके विभागका वर्णन है। शलाका कर्म, कायचिकित्सा भूततंत्र, शल्यतंत्र, अङ्गदतत्त्व, बालरक्षातत्त्व और बीजबद्धनतत्त्व ये अष्टांग आयुर्वेद हैं। शरीर आदिकों रक्षाके लिये जो भूम्य और सूत्र आदिके द्वारा बोधन किया जाता है उसे भूतिकर्म कहते हैं। जांगुलिप्रकर्मका अर्थ विषविद्या है। क्रियाविशालपूर्वमें लेखन आदि बहतर कलाओंका और स्त्रियोंमें चौसठ गुणों आदिका वर्णन है। लोकबिंदुसारमें आठ व्यवहार, चार बीज, मोक्षगमन, क्रिया और मोक्षसूत्रका वर्णन है। इष्टिवादके पांचवें भेद चूलिकाके पांच भेद हैं- जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और अकाशगता। इनमें अपने-नामानुसार विद्याओंका वर्णन है।

[९] शंका-विभंगज्ञानके पहले कौनसा दर्शन होता है ?

[९] समाधान-सत्यस्लपणाके १३४ वें सूत्रकी टीका करते वारसेनस्वामीने बतलाया है कि विभंगज्ञानके पहले होनेवाले दर्शनका अवधिदर्शनमें अन्तर्भूति हो जाता है। इससे इतना तो ज्ञान होता है कि विभंगज्ञानके पहले अवधिदर्शन होता है। तब भी आगममें इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि अवधिदर्शन चोथे गुणस्थानमें बतलाया है और विभंगज्ञान इसके पहले होता है।

[१०] शंका-मनःपर्ययज्ञानका क्या विषय है ?

[१०] समाधान-मनःपर्ययज्ञानके विषयका निर्णय करते समय मुख्यतः इस बातका विचार करना आवश्यक है कि मनःपर्ययज्ञान केवल मनकी पर्यायोंको ही जानता है या मनके निमित्तसे प्रवृत्त होकर साथे अन्य पदार्थोंको भी जानता है।

मनःपर्ययज्ञानकी व्युत्पत्ति करते हुए वीरसेनस्वामीने प्रकृति अनुयोगद्वारमें लिखा है कि दूसरेके मनोगत अर्थको मन कहते हैं और पर्यय शब्दका अर्थ विशेष है, इससे यह निष्कर्ष निकला कि मनकी अवस्थाए मनःपर्यय कहलायीं और उनका ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान कहलाया। यदि इस लक्षण पर बारीकीसे ध्यान दिया जाता है तो इससे यही ज्ञात होता है कि मनःपर्यय ज्ञान साक्षात् रूपसे मनकी अवस्थाओंको जानता है। किंतु बाजी अनुयोगद्वारमें जो वाचः पर्ययज्ञानके विषयका ज्ञान करानेके लिए सूत्र आया है उनसे ज्ञात होता है कि मनःपर्ययज्ञान अन्य विषयोंको भी जानता है। सूत्र निम्न प्रकार है-

मणे माणसे पडिविदहता परेसि सण्णा सदि मदि चिंता जीविद
मरणं लाहुलाहं सुखदुक्खं णगरविणासं देशविणासं जयपथविणासं
खेडविणासं दब्डविणासं मठंकनिणासं पट्टणविणासं दोणणमहविणासं
अडुडु अणावुडु सुब्डु दुडुष्टि सुभिक्खं दुधिक्खं खेमाखेम भयरोग
काल संजते अथे वि जाणादि।

तात्पर्य यह है कि मतिज्ञानसे दूसरेके मनको ग्रहण करके ही यह जीव मनःपर्ययज्ञानसे दूसरेका नाम स्मृति, मति, चिन्ता जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख दुःख, नगरविनाश, देशविनाश, जनयदविनाश, खेटविनाश, कर्वटविनाश, मठम्बविनाश, पत्तनविनाश, त्रोणमुखविनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुबृष्टि, दुर्बृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेय, अक्षेय, भय, रोगको कालकी मर्यादा लिये हुए जानता है। तात्पर्य यह है कि इन सबके उत्पाद, स्थिति और भंगको मनःपर्ययज्ञानी जानता है।

इस प्रकार यद्यपि इस सूत्रमें संज्ञा, मति आदि अन्य विषयोंका उल्लेख है तो भी इनको मनःपर्ययज्ञानी तभी जानता है जब वे किसीके मनके विषय हो गये हो या होनेवाले हों। इससे ज्ञात होता है कि मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा मुख्यतः भूत, भविष्य और वर्तमानस्त्रप मनकी पर्यायें जानी जाती हैं। तत्वार्थ सूत्रमें मनःपर्ययज्ञानका विषय जो अवधिज्ञानके विषयका अनन्तवां भाग बतलाया है उससे भी उक्त निष्कर्ष निकलता है।

[११] शंका-मनके आलंबनसे मनःपर्ययज्ञान होता है इसका क्या अभिप्राय है ?

[११] समाधान-मनःपर्ययज्ञान मनोगत अर्थको ही जानता है इतना ही मनका आलम्बन यहांपर विवक्षित है। जैसे "आकाशमें चन्द्रमाको देखो" इस उदाहरणमें आकाश चन्द्रमाका आलम्बन मात्र है। यह कुछ चन्द्रमाको उत्पत्तिमें सहायक नहीं इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान कुछ मनके निमित्तसे उत्पन्न नहीं होता। किन्तु मनोगत विषय ही मनःपर्ययज्ञानका विषय है। मनःपर्ययज्ञानमें इतना ही मनका अवलम्बन विवक्षित है।

[१२] शंका-ऋजुमति और विपुलमतिमें क्या अन्तर है ?

[१२] समाधान-ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान उन्हींके द्वारा विचारे गये पदार्थको जानता है जिनका मन संशय विपर्यय और अनन्धवसायसे रहित है, या ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तीनों कालके विषयको जानता हुआ भी अतीत और अनागत मनके विषयको नहीं जानता किन्तु जो जीव विद्यमान है और वर्तमान कालमें विचार कर रहे हैं उन्हींके मनसे सम्बन्ध रखनेवाले तीनों कालके

विषयको जानता है। परन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञानकी यह बात नहीं है। यह तो उन सभी विषयोंको जानता है जिनका चिन्तन किया जा चुका है, चिन्तन किया जा रहा है या चिन्तन किया जायगा। तथा क्रजुमति मनःपर्ययज्ञान प्रतिपाती भी है। वह, जो जीव उपशमशेषी पर चढ़ता है उसके भी होता है। किन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान इस प्रकारका नहीं हैं इस प्रकार दोनोंमें बड़ा अन्तर है।

[१३] शंका-केवलज्ञान का क्या विषय है ?

[१३] समाधान-द्रष्टुति अगुदोच्छासों बतलाया है कि केवली जिन, देवलोक, असुरलोक और मनुष्यलोक की गति और आगति मरण, उपपाद बन्ध, पोक्ष, क्रद्धि, स्थिति, युति, अनुमार्ग, तर्क, कल, मन, मानसिक, मुक्त, कृत प्रतिसेवित आदिकर्म, अहंकर्म, सब लोक सब जीव और सब भाव इन सबको जानते और देखते हुए विहार करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और उनकी सब अर्थ और व्यंजन पर्याय हैं।

आत्माका स्वभाव जानना और देखना हैं। चूंकि संसारी आत्मा आवरणकी हीनाधिकताके कारण सबको नहीं जान देख पाता है। पर जिस आत्माके ये आवरण नष्ट हो गये वह या तो सबको जाने और सबको देखे या किसीको न जाने और किसीको न देखे। दूसरे विकल्पके माननेपर जानना और देखना आत्माका स्वभाव नहीं ठहरता। अतः यही मिळ होता है कि सब द्रव्यकी और उनकी त्रिकालबत्तीं सब अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय केवलज्ञानका विषय है।

[१४] शंका-सात नयोंका स्वरूप क्या है और उनमें परस्पर क्या तारतम्य है ?

[१४] समाधान-जो संग्रह और असंग्रहरूप दोनों प्रकारके विषयोंको ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते हैं। या अर्थके अनिष्टन रहते हुए संकल्प मात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जो लिंगादिककी अपेक्षा भेद न करके सबको एकरूपसे ग्रहण करता है वह संग्रहनय हैं। जो संग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंमें विधिपूर्वक भेद करता है वह व्यवहारनय है। ये तीनों द्रव्यार्थिक नय हैं। क्योंकि इनका विषय द्रव्य है। इसमें काल भेद नहीं पाया जाता तो भी ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं, क्योंकि संग्रहनय केवल संग्रहरूप पदार्थको विषय करता है परन्तु नैगमनय संग्रह और असंग्रह रूप दोनों प्रकारके पदार्थोंका विषय करता है इसलिए नैगमनयके विषयसे संग्रहनयका विषय सूक्ष्म है और नैगमनयका विषय स्थूल। इसी प्रकार व्यवहारनय संग्रहनयके विषयसे विधिपूर्वक भेद करके प्रवर्तता है इसलिए संग्रहनयके विषयमें व्यवहारनयका विषय सूक्ष्म है और संग्रहनयका विषय स्थूल।

जो वर्तमान पर्याय मात्रको विषय करता है उसे क्रजुसूत्रनय कहते हैं। लिंगादिकका व्यभिचार हटाकर जो शब्द द्वारा वर्तमान पर्यायको ग्रहण करता है उसे शब्दनय कहते हैं। जो शब्द जिस अर्थमें लड़ हो उसी शब्द द्वारा जो वर्तमान पर्यायको ग्रहण करता है वह समभिन्न नय है तथा जिस शब्दका जो व्यव्याख्या अर्थ हो तत्क्रियापरिणत अर्थको जो उस शब्दके द्वारा ग्रहण करता है उसे एवं भूत नय कहते हैं। ये चारों पर्यायार्थिक नय हैं इसलिए द्रव्यार्थिक नयोंसे इनका विषय सूक्ष्म है ही। फिर भी परस्पर इनका उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय है। क्रजुसूत्र नय लिंगादिकका भेद नहीं करता। वह शब्द व्यवहारको महत्व ही नहीं देता। इसके विषयसे

शब्दनयका विषय सूक्ष्म है और इसका विषय स्थूल। समाभिरुद्र नय लिंगादिकका भेद हो जानेपर भी एक अर्थमें एक शब्दको ही स्वीकार करता है किन्तु शब्दनय में यह बात नहीं पाई जाती इसलिए शब्दनयके विषयसे समाभिरुद्र नयका विषय सूक्ष्म है और शब्दनयका विषय स्थूल। एवं भूत नय रीढ़िक अर्थको स्वीकार न करके तत्क्रियापरिणाम समयमें व्युत्पत्तिरूप अर्थको ही स्वीकार करती है इसलिए समाभिरुद्र नयके विषयसे एवं भूत नयका विषय सूक्ष्म हैं और समाभिरुद्र नयका विषय स्थूल। इनमेंसे प्रारंभके चार नय अर्थ नय हैं, क्योंकि शब्दकी अपेक्षा उनके विषयका विचार नहीं किया जाता और अंतके तीन नय शब्दनय हैं क्योंकि इनके विषयका शब्दकी अपेक्षा विचार किया है। इस प्रकार सात नयोंका स्वरूप और उनमें परस्पर तारतम्य जानना चाहिये।

दूसरा अध्याय-

[१५] शंका-एकसाथ एक जीवके कमसे कम और अधिकसे अधिक कितने भाव हो सकते हैं ?

[१५] समाधान-भाव यांच हैं-औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक। मिथ्याद्विष्ट जीवके तीन भाव हैं-क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक। यहां प्रतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव हैं। क्रोधादि औदयिक भाव हैं और जीवत्व आदि पारिणामिक भाव हैं। तथा जो क्षायिक सम्बन्धिष्ट जीव उपशम श्रेणीपर चढ़कर उपशान्त मोही हो जाते हैं उनके यांचों भाव होते हैं। यहां कषायका उपशम हो जानेसे उपशान्त कषाय यह औपशमिक भाव है। दर्शनप्रोहनीय क्षय होनेसे क्षायिकका सम्बन्धन यह क्षायिक भाव है। शेष तीन भाग पूर्ववत् हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि गुणस्थान प्रतिपत्त जीवोंके अभ्यन्तर भाव नहीं होता। इस प्रकार

संसार अवस्थामें एक जीवके एकसाथ कमसे कम तीन और अधिकसे अधिक पांच भाव होते हैं किन्तु मुक्तात्माके क्षायिक और पारिणामिक ये दो ही भाव पाये जाते हैं। इसलिये यदि संसार मोक्ष अवस्थाका भेद न करके विचार किया जाता हो तो एकसाथ एक जीवके कमसे कम दो और अधिकसे अधिक पांच भाव भी बन जाते हैं। यहाँ पर प्रत्येक भावके अवान्तर भावोंकी विवक्षा नहीं की है।

[१६] शंका-क्षायोपशमिक सम्यगदर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी और वह किस प्रकार घटित होती है ?

[१६] समाधान-क्षायोपशमिक सम्यगदर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर बतलायी है, किन्तु पूरा छयासठ सागर उसी वेदक सम्यगदृष्टिके प्राप्त होता है जो वेदक सम्यकत्वके अन्तमें क्षायिक सम्यगदृष्टि हो जाता है। यदि ऐसा जीव मिथ्यात्ममें जाता है तो उसके क्षायोपशमिक सम्यगदर्शनका उत्कृष्ट काल अन्तमुहूर्त कम छयासठ सागर ही प्राप्त होता है। मान लो कोई एक उपशम सम्यगदृष्टि मनुष्य वेदक सम्यकत्वको प्राप्त होकर मनुष्य पर्याय सम्बन्धी शेष भुज्यमान आयुसे रहित बीस सागरकी आयुबाले देवोंमें उत्पन्न हुआ।

वहाँसे पुनः मनुष्य होकर तदनन्तर मनुष्य आयुसे न्यून बाईस सागरकी आयुबाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँसे पुनः मनुष्य होकर तदनन्तर भुज्यमान मनुष्यायुसे तथा देव पर्यायसे अनन्तर प्राप्त होनेवाली मनुष्यायुमेंसे क्षायिक सम्यादर्शनके प्राप्त होने तकके कालसे पुनः चौबीस सागर आयुबाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। तदनन्तर मनुष्य हुआ और इसके जब वेदक सम्यकत्वके कालमें अन्तमुहूर्त शेष रह जाय, तब दर्शनमोहनीयके क्षणिका प्रारंभ करके यह जीव कृतकृत्य वेदक सम्यकत्वको प्राप्त करता है। इस प्रकार कृतकृत्य वेदक सम्यकत्वके अन्तिम समय तक पूरे छयासठ सागर हो जाते हैं। वेदक

सम्यकत्वकी छयासठ सागर स्थितिको प्राप्त करनेका यह एक प्रकार हैं इसी तरह अन्य प्रकारसे भी छयासठ सागर स्थिति प्राप्त की जा सकती हैं।

मूल बात इतनी हैं की ऐसे जीवको मनुष्यसे देव और देवसे मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न करते आना चाहिए। किन्तु छयासठ सागरका मनुष्य पर्यायमें पूरा करावे क्योंकि दर्शनपोहनीयकी क्षणणाका प्रारम्भ कर्म भूमिया मनुष्यके ही होता है।

[१७] शंका-पांच परिवर्तनका क्या स्वरूप है?

[१७] समाधान-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावकी अपेक्षा परिवर्तन हैं। इनमेंसे पहले द्रव्य परिवर्तनमें कर्म और नोकर्मके ग्रहणकी मुख्यता है। इस अपेक्षासे इसके दो भेद हो जाते हैं-एक ऐसा जीव है जिसने विवक्षित रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाली नोकर्म वर्णणाओंका विवक्षित योगसे ग्रहण किया। अनन्तर द्वितीया समयोंमें वे निजीण हो गई। तदनन्तर वह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहा। और ऐसा करते हुए उसके जब उन्हीं नोकर्म वर्णणाओंका पूर्वोक्त अवस्थाके रहते हुए ग्रहण होता है तब जाकर एक नोकर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। इसी प्रकार कर्मद्रव्य परिवर्तनका स्वरूप जान लेना चाहिए। किन्तु इसमें विशेषता है कि कर्मवर्णणाओंकी निर्जरा उनको ग्रहण करनेके अनन्तर द्वितीयादि समयसे न होकर एक समय अधिक एक आवलीकालके पश्चात् प्रारम्भ होती है। ये दोनों मिलकर एक द्रव्य परिवर्तन हैं। इसकी विशेष विधि अन्यत्रसे जान लेना चाहिये।

एक सूक्ष्म निगोदिया लक्ष्यपर्याप्ति जीव हैं जो लोकाकाशके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव तक जीवित रहकर मर गया। पुनः उसी अवगाहनासे वहाँ दूसरीबार उत्पन्न हुआ और क्षुद्र भव तक जीवित रहकर मर गया।

इस प्रकार अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाशमें जितने प्रदेश सामने हैं उतनी बार वहीं वहीं उत्पन्न होकर मरा। तदनन्तर एक एक प्रदेश सरक कर वह उत्पन्न हुआ, और इस प्रकार लोकाकाशके सब प्रदेशोंको अपनी उत्पत्तिसे समाप्त किया। इस प्रकार यह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन कहलाता है।

एक जीव प्रथम उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त होनेपर मर गया। पुनः दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त होनेपर मर गया। पुनः तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त होनेपर मर गया। इस प्रकार एक एक समय बढ़ाते हुए वह उत्सर्पिणीके सब समयोंमें उत्पन्न हुआ। तथा इसी प्रकार अवसर्पिणीके सब समयोंमें भी उत्पन्न करना चाहिये। जो उत्पत्ति क्रम बतलाया है वही क्रम मरणका भी समझना चाहिये। अर्थात् एक जीव प्रथम उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें मरा आदि। इस प्रकार यह सब मिलकर एक काल परिवर्तन कहलाता है।

नरककी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। इस आयुके साथ एक जीव नरकमें उत्पन्न हुआ। पुनः इसी आयुके साथ दूसरी बार नरकमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय हो उतनी बार पूर्वोक्त आयुके साथ ही नरकमें उत्पन्न होता रहा। तदनन्तर एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयुके साथ नरकमें उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार एक एक समय बढ़ाते हुए नरककी तेतीस सागर आयु समाप्त करना चाहिए। तिर्यचागतिकी जघन्य आयु अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है। देव गतिकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है। किन्तु यहां इकतीस सागर तककी आयुका ग्रहण करना चाहिये।

व्योमिक देवपर्यायकी इकतीस सागरसे अधिक आयुकाले जीव सम्पदाष्टि ही होते हैं, जो पांच परावर्तनसे रहित हैं। इन तिर्यक आदि गतिमें वही क्रम जानना चाहिये जो नरकगतिमें बतलाया है। किन्तु सर्वत्र अपना अपना जघन्य और उत्कृष्ट आयुका विचार करके कथन करना चाहें। इस प्रकार वह सब विस्तर एक भव यात्रने कहलाता है।

एक संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवने ज्ञानावरणकी सबसे जघन्य अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थितिका बन्ध किया। उसके उस स्थितिके योग्य सबसे जघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थान और सबसे जघन्य योगस्थान हैं। अब उसके स्थिति, कषाय, अध्यवसाय स्थान और अनुभाग अध्यवसाय स्थान तो वही रहे, किन्तु योगस्थान दूसरा हुआ। इस प्रकार जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके होनेतक पूर्वोक्त तीनों चीजें वही रही। अनन्तर उसके स्थिति और कषाय अध्यवसाय स्थान तो वही रहे किन्तु अनुभाग अध्यवसाय स्थान दूसरा हुआ। यहां जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान हो लेते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थानोंके होने तक स्थिति और कषाय अध्यवसाय स्थान वही रहते हैं किन्तु प्रत्येक अनुभागस्थान प्रति योगस्थान जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण ही लेते हैं। अनन्तर स्थिति तो वही रही किन्तु कषाय अध्यवसाय स्थान दूसरा हुआ इस दूसरे कषाय अध्यवसाय स्थानके प्रति भी असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान होते हैं, और प्रत्येक अनुभाग अध्यवसायस्थानके प्रति जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। इस क्रमसे स्थिति तो वही रहती है किंतु कषाय अध्यवसायस्थान असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। इस प्रकार जब इन तीनोंका घेरा पूरा हो लेता है तब पूर्वोक्त स्थितिसे एक समय अधिक स्थितिका बन्ध होता है। अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थितिके प्रति जो कषाय अध्यवसायस्थान, अनुभाग

अध्यवसायस्थान और योगस्थानके क्रमका कथन किया है वही क्रम समयाधिक अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थितिके प्रति भी जानना चाहिए। आगे भी क्रमसे ज्ञानावरण क्रमकी तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थिति समाप्त करना चाहिए। तथा ज्ञानावरण कर्मकी स्थितिका जो परिवर्तन क्रम बतलाया है उसी प्रकार सब मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिओंका जानना चाहिए। इस प्रकार यह सब मिलकर एक भाव परिवर्तन होता है।

इस प्रकार ये पांच परिवर्तन हैं। इनमें उत्तरोत्तर अधिक-काल लगता है। इन परिवर्तनोंका कथन करते समय हमारी दृष्टि संक्षप्तसे इनके स्वरूपके बतलानेकी रही। इनका विशेष खुलासा जो जानना चाहें वे अन्यत्रसे जान सकते हैं।

[१८] शंका-चक्षु आदि इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है या नियत स्थानमें ?

[१८] समाधान-चक्षु आदि इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है। नियत स्थानमें तो उनकी निवृत्ति होती है। बात यह है कि एक तो क्षयोपशम नियत स्थानमें बन नहीं सकता। दूसरे आत्माके आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर शेष सब प्रदेश चलायमान रहते हैं। अब जिन प्रदेशोंमें चक्षु आदि इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है उनके नियत स्थानसे हट जाने पर और उनके स्थानमें अन्य प्रदेशोंके आ जानेपर उनसे रूपादिकका ग्रहण नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी बात होती नहीं अतः सिद्ध हुआ कि चक्षु आदि इन्द्रियावरण क्षयोपशम सर्वाङ्ग ही होता है।

[१९] शंका-जन्म और योनिमें क्या अन्तर है ?

[१९] समाधान-योनि आधार है और जन्म आधेय। योनि उसे कहते हैं जिसमें जीव उत्पन्न होता है और जन्म नृतन पर्यायके ग्रहणका नाम है। इस प्रकार इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है।

[२०] शंका-शरीरके कितने भेद हैं ?

[२०] समाधान-शरीरके रांच भेद हैं - औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजस और कार्मण। किन्तु संयोगसे ये पञ्च प्रकारके हो जाते हैं। यथा-औदारिक औदारिक, औदारिक तैजस, औदारिक कार्मण, औदारिक तैजसकार्मण, वैक्रियिकवैक्रियिक वैक्रियिकतैजस वैक्रियिककार्मण, वैक्रियिकतैजसकार्मण, आहारक आहारक, आहारकतैजस, आहारककार्मण, आहारकतैजसकार्मण, तैजसतैजस, तैजसकार्मण और कार्मणकार्मण। औदारिक शरीरके स्कन्धोंका अन्य औदारिक शरीरके स्कन्धोंसे सम्बन्ध होनेपर औदारिक कहलाता है। इसीप्रकार तैजस, कार्मण या इन दोनोंके सम्बन्धके होनेपर कथन करना चाहिये। अन्य संयोगी भंगोंमें भी इसी प्रकार कथन करना चाहिये।

यद्यपि औदारिक शरीरके रहते हुए वैक्रियिक शरीर नहीं होता है यह ठीक है, तो भी औदारिक शरीरके सदभावमें आहारक शरीरतो होता है अतः औदारिक आहारक या आहारक औदारिक इस प्रकार संयोगी भंग कहना चाहिए था, पर नहीं कहा, सो इसका कारण यह है कि आहार शरीरके होनेपर औदारिक शरीरका उदय नहीं होता अतः औदारिक और आहारकका बन्ध नहीं प्राप्त होता।

यहाँ इतना विशेष जानना कि यद्यपि औदारिक वैक्रियिक या आहारक शरीरके रहते हुये तैजस और कार्मण शरीर नियमसे होते हैं तो भी इनके द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी भङ्गोंके दिखलानेके लिये पृथक् पृथक् कथन किया।

[२१] शंका-अनपवर्त्य आयुका खास अभिप्राय क्या है ?

[२१] समाधान-अनपवर्त्यमें अन् और अपवर्त्य से दो शब्द हैं इसलिये यह अर्थ हुआ कि जिसकी आयु घटने योग्य नहीं

है वे अनपवर्त्य आयुवाले कहलाते हैं। ऐसा नियम है कि प्रत्येक कर्मकी स्थिति और अनुभागमें उत्कर्षण और अपकर्षण होता रहता है। किन्तु उत्कर्षण बन्धके समय ही होता है और अपकर्षण कभी भी हो सकता है। बन्धके समय भी हो सकता है और उसके बिना भी हो सकता है। यहाँ आयु कर्मका प्रकरण है। पूर्वोक्त नियमके अनुसार चारों गतियोंकी भुज्यमान आयुमें अपकर्षण सम्भव है इस शैषण्यादिक चरणोत्तर इन्द्राणि मुखके द्वारा यह नियम किया गया है कि उपपाद जन्मवाले, चरमशरीरी और भोगभूमियाँ इन तीनों जीवोंकी आयु नहीं घटती। भवके प्रथम समयमें उन्हे जितनी आयु प्राप्त होती है उतने कालतक इन जीवोंको उस पर्यायमें रहना ही पड़ता है।

तीसरा अध्याय-

[२२] शंका-नरकोंमें पटलोंके क्रमसे किस प्रकार आयु बढ़ती है ?

[२२] समाधान-प्रथम नरकमें तेरह, दूसरेमें चारह, तीसरेमें नीं, चौथेमें सात, पांचवेमें पांच, छठवेमें तीन और सातवें नरकमें एक पटल है। इनमेंसे पहले नरकके प्रथम पटलमें जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु नव्वे हजार वर्ष है। दूसरे पटलमें जघन्य आयु नव्वे हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु नव्वे लाख वर्ष है। तीसरे पटलमें जघन्य आयु एक पूर्व कोटि है। चौथे पटलमें जघन्य आयु असंख्यात पूर्वकोटि और उत्कृष्ट आयु एक सागरका दसवां भाग हैं। अगले पटलोंमें पूर्व पूर्व पटलकी उत्कृष्ट आयु उस पटलकी जघन्य आयु है और उत्कृष्ट आयुमें प्रत्येक पटलमें एक सागरके दसवें भागकी वृद्धि होती गई है। इस आयु के लानेके लिये यह नियम है कि आखिरी पटलकी उत्कृष्ट आयु में से चौथा

और जो शेष रहे उनमें नी का भाग दे दो अनन्तर जिस पटलकी उत्कृष्ट आयु जानना हो उसकी संख्या से गुणाकार दो तो उस पटलकी उत्कृष्ट आयु आ जाती है। यहाँ नी का इसलिये भाग दिलाया कि प्रथमके बार पटलोंकी आयु अलगसे कही है इसलिए पांचवेंसे लेकर तेरहवें तक नी ही पटल होते हैं। इसी प्रकार अगले नरकोंके प्रत्येक पटलमें जघन्य और उत्कृष्ट आयु ले आना चाहिए। उदाहरणार्थ दूसरे नरकमें ग्यारह पटल हैं।

अब प्रथम नरककी उत्कृष्ट आयु एक सागरको दूसरे नरककी उत्कृष्ट आयु तीन सागरमेंस घटा दो, शेष बचे दो सागर सो इसमें ग्यारहका भाग दे दो। अनन्तर जिस पटलकी आयु लाना हो तो उससे इस लब्धको गुणा कर दो और उसे प्रथम नरककी उत्कृष्ट आयुमें जोड़ दो तो इस प्रकार उस पटलकी उत्कृष्ट आयु आ जायेगी। मान लो हमें दूसरे नरकके तीसरे पटलकी उत्कृष्ट आयु जानना है तो हम पूर्वोक्त विधिके अनुसार यह क्रिया करेंगे-

$$3 - \frac{1}{1} - 2 - \text{सागर } \frac{8}{11} - \frac{1}{11} = \text{सागर } \frac{3}{11} \times 3 = \frac{9}{11} \text{ सागर}, \\ 1 + \frac{9}{11} = \frac{20}{11} \text{ सागर। अब यही तीसरे पटलकी उत्कृष्ट आयु होगी।}$$

इसी क्रमसे सातों नरकोंके सब पटलोंकी उत्कृष्ट आयु ले आना चाहिए, तथा अपनेसे पूर्ववर्ती पटलकी जो उत्कृष्ट आयु है वही उससे अगले पटलकी जघन्य आयु जानना।

[२३] शंका-विदेह क्षेत्रका वर्णन क्या है ?

[२३] समाधान- विदेहक्षेत्रका विस्तार $3368\frac{8}{11}$ योजन है और मध्यमें लम्बाई एक लाख योजन है। इसके ठीक मध्यमें सुमेरु पर्वत है। सुमेरुके पाससे दो गजदंत पर्वत गोलाकार निषेधसे मिले हैं। इसी प्रकार उत्तरकी ओरसे गजदंत पर्वत नीलसे मिले हैं। इससे विदेह क्षेत्र चार भागोंमें बट जाता है। दक्षिणकी ओर गजदंतके मध्य

क्षेत्रको देवकुरा और उत्तरकी ओर गजदंतोंके मध्यके क्षेत्रको उत्तरकुरु कहते हैं। तथा पूर्व दिशाका सब क्षेत्र पूर्व विदेह और पश्चिम दिशाका सब क्षेत्र पश्चिम विदेह कहलाता है। पहले और तीसरे और चौथे भाग के दो-दो भाग और हो जाते हैं। इस प्रकार तीसरे और चौथे भागके कुल चार भाग हुए। इन चार भागोंमें से भी प्रत्येक भागकी नदियों और पर्वतोंके कारण आठ आठ भाग हो जाते हैं। ये कुल बीतीस हुए। यही बीतीस विदेह हैं। इनमें भरत और ऐरावत क्षेत्रके समान आर्य और म्लेच्छ खण्ड स्थित हैं। गिरपूतिलाले उत्तराण आदि व तीर्थकर आर्य खण्डोंमें उत्पन्न होते हैं। जम्बूद्वीप में कुल बीतीस ढाईद्वीपमें एकसाँ सज्जर आर्यखण्ड हुए। तीर्थकरोंकी उत्कृष्ट संख्या १७० बतलाई है वह इसी अपेक्षासे बतलाई है। विदेहोंमें जो सीमधर आदि बीस तीर्थकर कहे गये हैं वे ढाईद्वीपके बीस महाविदेहोंकी अपेक्षासे कहे गए जानना चाहिए। क्योंकि पूर्वोक्त विभागानुसार जम्बूद्वीपके चार महाविदेह हुए। अतः ढाईद्वीपके बीस महाविदेह होते हैं। विशेष विधि त्रिलोकप्रज्ञसि आदि ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिए।

[२४] शंका-तीन लोकमें अकृत्रिम चैत्यालय कहाँ कहाँ हैं ?

[२४] समाधान-चित्रा पृथ्वीके नीचे भवनबासियोंके भवनोंमें सात करोड़ बहतर लाख अकृत्रिम चैत्यालय हैं। मध्यलोकमें तेरहवें द्वीप तक चारसो अठावन अकृत्रिम चैत्यालय हैं। व्यन्तर देवोंके भवनोंमें और ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें असंख्यत चैत्यालय हैं। और उर्ध्वलोकके चौरासी लाख सज्जानवें हजार तेरहस अकृत्रिम चैत्यालय हैं। मध्यलोक चैत्यालय मेस, कुलाचल, विजयार्ध, शाल्मलीवृक्ष, जम्बूवृक्ष, वक्षारगिरि, चैत्यवृक्ष, रतिकर, दधिमुख, अञ्जनगिरि, रुचकागिरि, कुण्डलगिरि, मानुषोन्नर और इष्वाकार पर्वतों पर स्थित हैं।

[२५] शंका-आर्य म्लेच्छोंका विशद वर्णन क्या है ?

[२५] समाधान-जो स्वर्य गुणवाले हैं और गुणवालोंकी संगति करते हैं वे आर्य कहलाते हैं, और शेष म्लेच्छ। आर्योंके मुख्यतः दो भेद हैं-ऋद्धि प्राप्त और ऋद्धि रहित। आगममें जो बुद्धि आदि ऋद्धियाँ बतलाई हैं, तथा आदिकसे वे जिनके उत्थन हो जाती हैं वे ऋद्धिप्राप्त आर्य हैं। तथा ऋद्धिरहित आर्य पांच प्रकारके बतलाये हैं।

क्षेत्रार्थ, जात्यार्थ, कर्मार्थ, चरित्रार्थ, और दर्शनार्थ। काणी आदि देशोंमें पैदा हुए क्षेत्रार्थ हैं। इक्षवाकु आदि जातियोंमें पैदा हुए जात्यार्थ हैं। असि आदि षट्कर्मोंसे आजीविका करनेवाले कर्मार्थ हैं। ये तीन प्रकारके होते हैं-अविरति, श्रावक और मुनि, इनमें मुनि असि आदि कर्म नहीं करते। इसी प्रकार चरित्रार्थ और दर्शनार्थोंका स्वरूप समझना चाहिए। तो हीन है, जिनमें कर्मार्थ तद्यन्त लक्षण नहीं पायी जाती वे म्लेच्छ कहलाते हैं। ये दो प्रकारके हैं-अनन्दीयज और कर्मभूमिज। लक्षण समुद्र और कालोदधि समुद्रके अनन्दीयोंमें जो निवास करते हैं ऐसे कुभोगभूमियों मनुष्य अनन्दीयज म्लेच्छ कहलाते हैं। तथा कर्मभूमिमें पैदा हुए शक, यवनादिक कर्मभूमिज म्लेच्छ कहलाते हैं। लोकानुयोगके गन्धोंमें म्लेच्छ खण्डोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंको भी म्लेच्छ बतलाया है। इस प्रकार म्लेच्छ मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं।

चौथा अध्याय-

[२६] शंका-अन्यत्र जो बारह स्वर्गोंकी मान्यता है उसका प्रकृत मान्यतासे कैसे मेल बैठता है ?

[२६] समाधान-इन्ह आदि दस प्रकारके देवोंकी कल्पना होनेसे स्वर्गोंको कल्प कहते हैं। अब जब इन्ह आदि दस प्रकारके देवोंकी कल्पना है जिनमें, वे कल्प कहलाते हैं यह अर्थ मुख्य रूपसे विवक्षित हो जाता है तो कल्प सोलह प्राप्त होते हैं। किन्तु इन सोलह कल्पोंके

इन्द्र बारह ही हैं। इसलिए जब इनकी मुख्यतासे विवक्षा हो जाती है तब कल्प बारह प्राप्त होते हैं।

त्रिलोकसारकी गाथा ४५२ और ४५३ में जो सोलह और ४५४ में बारह कल्प बतलाये हैं वहाँ भी वही विवक्षा मुख्य रखी हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गोंकी मान्यताके साथ बारह स्वर्गोंकी मान्यताका सहज मेल बैठ जाता है। यह विवक्षाभेद है, मान्यताभेद नहीं।

पांचवा अध्याय-

[२७] शंका-छह द्रव्योंका अस्तित्व किसपर सिद्ध होता है ?

[२७] समाधान-आत्माका अस्तित्व अनुभवगम्य है। भौतिक या जड़ पदार्थोंसे आत्मा भिन्न है यह अनुभवसे जाना जाता है। चेतन और अचेतनका विभाग आत्माके अस्तित्व पर ही निर्भर है। ज्ञान और दर्शन आदिका अन्वय आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं प्रतीत होता, इससे मालूम पड़ता है कि आत्मा है। रूप रस आदि गुणवाला पुद्गल तो स्पष्ट ही है। अब तो धर्मादिक चार द्रव्य सो इनका अस्तित्व इनके कार्योंसे जाना जाता है। धर्म द्रव्यका कार्यगमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहायता करना है। अर्थर्म द्रव्यका कार्य ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायता करता है। आकाश द्रव्यका कार्य सबको अवकाश देता है और कालद्रव्यका कार्य सबके परिणामनमें सहायता करना है। कारण दो प्रकारके होते हैं-साधारण कारण और असाधारण कारण। जो सबके लिए समान कारण हो उसे साधारण कारण कहते हैं। और प्रत्येक कार्यके अलग अलग कारणको असाधारण कारण कहते हैं। ये धर्मादिक द्रव्य गति आदि कार्यके साधारण कारण हैं। इसलिए इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। इस प्रकार द्रव्य छह हैं यह सिद्ध होता है।

[२८] शंका-मूर्ति और आकारमें क्या भेद है?

[२८] समाधान-रूप रसादिको मूर्ति कहते हैं और वस्तुके स्वरूपको आकार कहते हैं। पुदगल इव्य मूर्ति भी है और साकार भी। अन्य इव्य साकार तो है किन्तु मूर्त नहीं। आकारका अर्थ संस्थान भी है किन्तु यह अर्थ यहाँ विवरित नहीं।

[२९] शंका-बर्तना और परिणामोंमें क्या अन्तर है ?

[२९] समाधान-बदल करानेको बर्तना कहते हैं। जैसे धर्मादिक इव्य पूर्व पर्यायिका त्याग करके नवीन पर्यायिकी उत्पत्तिके प्रति यद्यपि स्वयं व्यापार करते हैं परन्तु उनका यह व्यापार बाहु निमित्तके बिना नहीं बनता अतः उसमें बदल कराना काल का कार्य है। इस प्रकार यहाँ बर्तनाका स्वरूप बदल कराना प्राप्त होता है, जो कालका मुख्य धर्म है और परिणाम इव्यिकी उस अवस्थाको कहते हैं जो एक अवस्थाका त्याग करके दूसरी अवस्था रूप हो जाती है और हलचल क्रियासे रहित है। तात्पर्य यह है कि बर्तना कारण है और परिणाम कार्य। बर्तना कालइव्यिका स्वभाव है और परिणाम प्रत्येक इव्यिकी प्रति समय होनेवाली पर्याय। इस प्रकार इन दोनोंमें अन्तर है।

[३०] शंका-परमाणुका क्या स्वरूप है ?

[३०] समाधान-जिसका आदि, अन्त और मध्य यह कुछ भी नहीं, जिसे इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता और जो अप्रदेशी है अर्थात् एक प्रदेशको छोड़कर जिसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं पाये जाते उसे परमाणु कहते हैं। यह इव्यार्थिक नवकी अपेक्षा परमाणुका स्वरूप बतलाया है। किन्तु पर्यायार्थिक नवकी अपेक्षा विचार करने पर तो परमाणुका भी आदि मध्य और अन्त प्राप्त होता है तो भी उनका विभाग नहीं किया जा सकता इसलिए उनके

आधारभूत द्रव्यको परमाणु कहते हैं। इस लक्षणके करने पर परमाणुके और सब विशेषण पूर्ववत् हैं।

[३१] शंका-द्वयणुकादि स्कन्धोंकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

[३१] समाधान-दो या दोसे अधिक परमाणुओंका संयोग स्त्रिगृह या रक्षगुणके कारण होकर द्वयणुकादि स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। 'द्वयधिकादिगुणान् ।' इस सूत्रमें गुण शब्द अविभाग प्रतिच्छेदका बाबी है। गुणका यह अंश जिसमें बुद्धिसे खण्डकल्पना सम्भव नहीं। अविभाग प्रतिच्छेद कहलाता है, जब कोइ परमाणु जघन्य गुणवाला अर्थात् एक अविभाग प्रतिच्छेदवाला होता है तो उसका अन्य परमाणुसे किसी भी हालतमें बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार समान गुणवालोंका परस्पर बन्ध नहीं होता, किन्तु दो अधिक गुणवालेका दो गुणहीन गुणवालेके साथ बन्ध हो जाता है।

इससे यह फलित हुआ कि स्त्रिगृह गुणवालेका रक्ष गुणवालेके साथ बन्ध होता है। स्त्रिगृह गुणवालेका स्त्रिगृह गुणवालेके साथ बन्ध होता है। रक्ष गुणवालेका स्त्रिगृह गुणवालेके साथ बन्ध होता है और रक्ष गुणवालेके रक्ष गुणवालेके साथ भी बन्ध होता है। किन्तु यह बन्ध परस्पर दो अधिक गुणोंके होनेपर ही होता है। और बन्ध हो जानेपर जो अधिक गुणवाला होता है तद्वय दूसरा परिणाम जाता है। अब यह प्रश्न होता है कि दो परमाणुओंका बन्ध सर्वात्मना होता है या एकदेशसे होता है ? इसका यह समाधान है कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथचित् सर्वात्मना बन्ध होता है तो भी वे दो परमाणु एक नहीं हो जाते क्योंकि तब वे दो परमाणु द्वयणक स्कन्धके अवयव हो जाते हैं। और यर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथचित् एकदेशेन बन्ध होता है। यदि सर्वथा सर्वात्मका बन्ध मान लिया जाय तो सब पुद्गल द्रव्य एक परमाणुपतेको प्राप्त

हो जायेगा। और सर्वथा एकदेशीन अन्य माना जाय तो अन्यके होनेपर हीनि गुणवाले परमाणुका अधिक गुणवाले परमाणुकपरे परिणामन हो जाता है यह कथन नहीं बन सकता है। इस प्रकार द्वयणुकादि स्कन्धोंकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है संक्षेपमें इसका विचार किया।

[३२] शंका-सूत्रकारके द्वारा उक्त द्रव्यके दोनों लक्षणोंका समन्वय किस प्रकार होता है ?

[३२] समाधान-जब जिसमें गुण और पर्याय पाये जाते हैं उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्यका यह लक्षण किया जाता है तब गुण अन्वयी होनेसे द्रव्यके धीव्यभावको सूचित करता है और पर्याय व्यातिरेक होनेसे द्रव्यके उत्पाद और व्ययभावको सूचित करता है। इसी प्रकार जिसका उत्पाद, व्यय और धीव्य है उसे सत् कहते हैं, सत्का यह लक्षण किया जाता है तब भी उक्त बात ही प्राप्त होती है। इस प्रकार तत्त्वतः विचार करनेपर इन दोनों लक्षणोंका अभिप्राय एक ही है इसलिए इनका समन्वय हो जाता है।

छठा अध्याय-

[३३] शंका-द्रव्ययोग और भावयोगका क्या स्वरूप है ?

[३३] समाधान-आत्मप्रदेशोंके परिस्यन्दको द्रव्ययोग कहते हैं। और इसके पैदा करनेकी शक्तिको भावयोग कहते हैं। यह योग निमित्तके भेदसे तीन प्रकारका है-मनोयोग, वचनयोग और काययोग। बीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमके रहते हुए शरीर नामकर्मके उदयसे औदारिकादि कायवर्गणाओंमेंसे किसी एक प्रकारकी वर्गणाओंके आत्मप्रदेश परिस्यन्द होता है, यह द्रव्य

काययोग है और आत्मामें जो इसको यैदा करनेकी शक्ति है वह भाव काययोग है। बबनवर्गणाओंका अबलम्बन व बबनलविधिके रहते हुए बबनोच्चारणके समुख हुए आत्माके जो आत्मप्रदेश परिस्पन्द होता है वह द्रव्यवचनयोग है और आत्मामें जो इसे यैदा करनेकी शक्ति है वह भाव वचनयोग है। मनोवर्गणाओंके आलम्बनसे मानस परिणामके समुख आत्माके जो आत्मप्रदेश परिस्पन्द होता है वह द्रव्य मनोयोग है और आत्मामें जो इसे यैदा करनेकी शक्ति है वह भाव मनोयोग है।

[३४] शंका-अजीवाधिकरणका रहस्य क्या है ?

[३४] समाधान-आत्माके आस्त्रबरुप परिणामोंके होनेमें बाह्य चेतन और अचेतन पदार्थ निर्मित होते हैं। वहाँ अधिकरणसे इन्हींको ग्रहण किया है। जिससे आत्मा आस्त्रबके समुख होता है वह अधिकरण कहलाता है। वह अधिकरण दो प्रकारका है- जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण। जीवाधिकरणमें जीवकी सब प्रवृत्तियोंको ग्रहण किया है। मुख्यतः उन प्रवृत्तियोंके एकसो आठ भेद हो सकते हैं जो “आद्यं संरम्भ ” इत्यादि सूत्र द्वारा गिनाये ही हैं। अजीवाधिकरणमें हिंसादिके प्रयोजन जड़ पदार्थोंको ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन बाह्य पदार्थोंके निर्मितसे आत्माके आस्त्रबरुप परिणाम होते हैं या कर्मोंका आस्त्रब होता है वे सब अधिकरणमें लिये जाते हैं। अब यदि वे चेतन होते हैं तो उनका ग्रहण जीवाधिकरणमें किया जाता है। और अचेतन होते हैं तो उनका ग्रहण अजीवाधिकरणमें किया जाता है। इस प्रकार अजीवाधिकरणसे उन जड़ पदार्थोंका ग्रहण करना चाहिये जो निरन्तर आत्माके परिणामोंका मलिन करते रहते हैं जिससे कर्मोंका आस्त्रब होता है। प्रकृतमें अजीवाधिकरणका यही रहस्य है।

[३५] शंका-केवलीका अर्बणवाद क्या है ?

[३५] समाधान-जिसमें जो दोष न हो उसका उसमें कथन करना अर्बणवाद कहलाता है। केवलीके कबलाहार नहीं होता तब भी केवलीके कबलाहारका कथन करना केवलीका अर्बणवाद है। बात यह है कि जब यह जीव क्षपकश्रेणीपर चढ़कर बाहरवें गुणस्थानमें प्रविष्ट होता है तब ध्यानरूप बहिसे इसके शरीरकी शुद्धि हो जाती है। शरीरमें सब निगोदिया जीवोंका अभाव हो जाता है। तेरहवें गुणस्थानमें तो इसके प्रभावसे एक भी निगोदिया जीव नहीं रहता। इसके प्रवृत्तिका वह भाग समाप्त हो जाता जिससे शरीरमें मलका संचय होकर उसमें निगोदिया जीव पैदा होते हैं। सातिशय पुस्त विशेषको यदि छोड़ दिया जाय तो यह निश्चय है कि जो आहार पानीको ग्रहण करेगा उसके शरीरमें मलमूत्रका संचय अवश्य होगा और इससे उसके शरीरमें कृमि व निगोदिया जीवोंकी भी उत्पत्ति होगी चूंकि केवलीके शरीरमें इस प्रकारके जीवोंका निषेध किया है।

इससे ज्ञात होता है कि केवलीके कबलाहार नहीं होता। इस संसारी जीवोंके शरीरमें ब्रस और निगोदिया जीव भरे पड़े हैं। वे निरन्तर शरीरका शोषण कर रहे हैं जिससे शरीरमें उष्णता होकर आहार, पानी आदिकी आवश्यकता पड़ती है। पर केवलीके शरीरमें इस प्रकारकी उष्णताका कारण नहीं रहता। उनके शरीरका शोषण अब अन्य ब्रस व निगोदिया जीवोंके कारण नहीं होता। अतः शरीरमें आन्तर उष्णता उत्पन्न होकर उनके शरीरका उपक्षय नहीं होता। और इसलिये प्रति समय उनके शरीरके जितने परमाणु निजीर्ण होते हैं उतने नवीन परमाणुओंका ग्रहण हो जानेसे कबलाहारके बिना भी उनके शरीरकी स्थिति बनी रहती है। जिस प्रकार कर्मवर्गणाओंके

आने और जानेमें कारण शरीरकी स्थिति होती है उसी प्रकार अब उनके नोकर्म वर्गणाओंके आने और जानेसे शरीरकी स्थिति होती है। माना कि केवलीके असाताका भी उदय होता है। भूख व प्यास आदिका पैदा करना असाताका काम नहीं है। ये तो अपने कारणोंसे पैदा होते हैं।

हाँ असाताके उदय वा उदीरणमें ये भूख व प्यास आदि नोकर्म हो सकते हैं। चूंकि जिन कारणोंसे हम संसारी जनोंको भूख व प्यास आदिकी बाधा होती हैं वे कारण केवली जिनके नहीं यादे जाते अतः उन्हें भूख व प्यास आदिकी बाधा नहीं होती। और चूंकि उन्हें भूख व प्यास आदिकी बाधा नहीं होती। इसलिये उन्हे कवलाहार आदिकी आबश्यकता नहीं पड़ती। इससे निष्ठय होता है कि केवलीके कवलाहारका कथन करना अवर्णवाद है। इसी सबबसे शास्त्रकारोंने कवलाहारको केवलीका अवर्णवाद बतलाया है।

[३६] शंका-अकाम निर्जराका क्या स्वरूप है ?

[३६] समाधान-कायवल्लेश आदिके जिन साथनोंसे कर्मोंकी निर्जरा तो अधिकतासे हो किन्तु आत्माका विकास न होकर वह संसारमें ही परिष्परण करता रहे उस निर्जराको अकाम निर्जरा कहते हैं। यह जीव संसारमें अपनी इच्छाके बिना विविध प्रकारके कष्ट सहता है। कभी यह जेलखानेमें डाल दिया जाता है, कभी इसका आहार पानी रोक दिया जाता है। इससे उदयप्राप्त कर्मोंकी तीव्र उदीरणा होकर वे निजीर्ण होने लगते हैं और अनुदयप्राप्त कर्मोंकी भी यथायोग्य उदयप्राप्त कर्मोंके द्वारा निर्जरा होने लगती है। इस प्रकार बिना इच्छाके जो कष्ट सहा जाता है और उससे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है उसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

[३७] शंका-सम्बन्ध तो आत्माका गुण है यह आयुकर्मके आस्रवका कारण कैसे हो सकता है ?

[३७] समाधान-सम्बन्धके रहनेपर तिर्यङ्ग और मनुष्योंके देवायुका ही आस्रव होता है यह बतलानेके लिये सम्बन्धको भी आस्रवके कारणोंमें गिन दिया है। सराग संयम और संप्रमासंयमको भी आस्रवके कारणोंमें गिनाया है। यहाँ भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। अन्यत्र जहाँ भी आत्मपरिणाम आस्रवके कारण बतलाये हो वहाँ यही समझना चाहिये कि उन परिणामोंके होनेपर ही जीवके उस प्रकारकी योग्यता होती है।

सातवां अध्याय-

[३८] शंका-अतिचार और अनाचारोंमें क्या अन्तर है ?

[३८] समाधान-जिस व्रतकी जो मर्यादा है उसका अतिक्रम करके आचरण करनेको अतिचार कहते हैं और व्रतके विरुद्ध आचरणको अनाचार कहते हैं। अतिचारके होनेपर व्रत सदोष हो जाता है और अनाचरणके होनेपर व्रतका भंग हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब व्रतके रक्षाकी भावना रहते हुए मर्यादाका उल्लंघन होता है तब अतिचार दोष लगता है और जब जीव व्रतकी रक्षाकी भावनाका न्याय करके विरुद्ध आचरण करने लगता है तब अनाचार होता है। अतिचारमें एकदेश व्रतका भंग है और अनाचारमें व्रतका पूरा भंग है। एकदेश व्रतका भंग कभी क्रिया द्वारा और कभी भावना द्वारा होता है और सर्वदेश व्रतका भंग व्रतकी

भावना और तदूप किया इन दोनोंके त्यागसे होता है। इस प्रकार अतिचार और अनाचारमें यही अन्तर है।

[३९] शंका-उपभोग परिभोग परिणाम ब्रत और उसके अतिचारोंका विशद् अधिग्राय क्या है ?

[३९] समाधान-बारह ब्रतोंका स्वीकार यावज्जीवनके लिये किया जाता है। इन बारह ब्रतोंमें उपभोग परिभोग परिणामब्रतका भी अंतर्भाव है इसके स्वीकार करनेके पश्चात् यह सदाकाल रहता है यह निश्चित होता है। यद्यपि उपभोग परिभोगकी बस्तुओंका त्याग दो प्रकारका होता है-कुछका यावज्जीवनके लिये और कुछका नियतकालके लिये, तो भी उपभोगपरिभोग परिमाणब्रत यह आत्माका परिणाम है अतः उपभोगपरिभोगकी बस्तुओंके नियतकालिक त्यागमें नियमित पड़ने वाले भी वह ब्रतरूप परिणाम सदा बना रहता है। देशवकाशिकब्रत आदेष्य भी यही क्रम जानना चाहिये। अब रही इसके अतिचारोंकी बात, सो इस विषयमें भत्तभेद हैं तो भी प्रकृतिमें यह विचार करना है कि तत्त्वार्थसूत्रमें इसके अतिचार किस अभिग्रायसे बतलाये हैं। मेरे ख्यालसे एक तो जिस श्रावकके उपभोगपरिभोग-परिमाण ब्रतमें सचित्त आहारका त्याग भी गर्भित हैं उसकी प्रमुखतासे ये अतिचार गिनाये हैं। दूसरे श्रावकके घर अतिथि आते भी हैं। अतः यदि श्रावक आहार बनाते समय ये दोष उत्पन्न करता है तो भी ये अतिचार हो जाते हैं, क्योंकि इन दोषोंके कारण वह आहार अतिथिके योग्य नहीं रहता, और ऐसा करनेसे आहार तैयार करनेवाले श्रावकके परिणाम भी निर्मल नहीं रहते। यही सबब है कि स्वचित्ताहार आदिको अतिचारोंमें गिनाया है। चरित्रसारमें भी यही युक्ति दी है कि इनके कारण अतिथिका उपयोग इन स्वचित्त आदिके विषयमें जाता है।

आठवां अध्याय-

[४०] शंका-बन्धतत्त्वको चार भागोंमें ही क्यों बांटा गया ?

[४०] समाधान- जब कोइ एक पदार्थ दूसरे पदार्थको आवृत्त करता है या उसकी शक्तिका घात करता है तब आचरण करनेवाले पदार्थमें आचरण करनेका स्वभाव, आचरण करनेका काल, आचरण करनेसे प्रकृतिका हीनाधिक भाव और आचरण करनेवाले पदार्थका परिणाम ये चार अवस्थाएं एकसाथ प्रकट होती है। यही बात प्रकृतिमें समझना चाहिये। प्रकृतिमें आत्मा आत्मियमाण और कर्म आचरण। अतः कर्मकी भी बन्धके समय उक्त चार अवस्थाएं प्रकट होती है जिन्हें प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध कहते हैं। ये चारों अवस्थाएं कर्मबन्धके प्रथम समयमें ही सुनिश्चित हो जाती हैं।

उदाहरणार्थ जिस समय हम लालटेनको वस्त्रसे ढकते हैं उसी समय वस्त्रमें चार अवस्थाएं स्पष्टतः प्रतिभाषित होती हैं।

१-वस्त्रका स्वभाव लालटेनके प्रकाशको आवृत्त करना, २-निश्चित कालतक लालटेनके प्रकाशको आवृत्त किये रहना, ३- लालटेनके प्रकाशको आवृत्त करनेकी शक्तिका वस्त्रमें हीनाधिक रूपसे याया जाना और आवृत्त करनेवाले वस्त्रका परिणाम।

[४१] शंका-विहायोगति नामकर्मका उदय किसके होता है ?

[४१] समाधान-जिस कर्मके उदयसे जीव आकाशमें गमन करता है उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। आकाश सर्वत्र है अतः पुर्वी आदियर गमन करना भी आकाशमें गमन करना है।

मुख्यतः नरकगति आदिके कारण करनेके लिये यहाँ 'विहायम्' उपपद दिया है। कैसे पर्याप्त हो जाने पर जो ग्राणधारीका गमन होता है उसमें विहायोगति नामकर्मका उदय कारण है।

तात्पर्य यह है कि पर्याप्त अवस्थासे त्रस जीवोंके विहाय गति नामकर्मका उदय होता है।

[४२] शांका-बन्धे हुए कर्मोंमें अनुभागका विभाग किस क्रमसे होता है ?

[४२] समाधान-घातिया कर्मोंका अनुभाग चार भागोंमें बटा है-लता, दारु, अस्थि और शील। इनमें से लतारूप शक्ति और दारुका अनन्तवाँ भाग देशघाति अनुभाग है और शेष सर्वघाति अनुभाग हैं। सम्यकत्वमें प्रकृतिमें देशघाति अनुभाग पाया जाता है। सम्यग्मिध्यात्मके दारुका अनन्तवाँ भाग सर्वघाति अनुभाग पाया जाता है मिथ्यात्मके दारुका अनन्त बहुभाग, अस्थि और शीलरूप अनुभाग पाया जाता है। ज्ञानावरणकी चार देशघाति दर्शनावरणकी तीन देशघाति पांच अन्तराय, चार संज्वलन और पुरुषदेव इनमें लता, दारु, अस्थि और शील या लता और दारु, या केवल लतारूप चार प्रकारका अनुभाग पाया जाता है।

सम्यग्मिध्यात्मके बिना शेष सब सर्वघाति, प्रकृतियोंमें शील, अस्थि और दारुका अनन्त बहुभाग या अस्थि व दारुका अनन्त बहुभाग या दारुका अनन्त बहुभाग इस प्रकार तीन प्रकारका अनुभाग पाया जाता है। तथा पुरुषदेवके बिना शेष आठ नीं कषायोंमें शील, अस्थि, दारु और लता या अस्थि दारु और लता या दारु और लता इस तरह तीन तरह तीन प्रकारका अनुभाग पाया जाता है।

अब रहे अघातिया कर्म, सो इनके पुण्यप्रकृति और पापप्रकृति इस तरह दो भेद हैं। पुण्यप्रकृतियोंका अनुभाग गुड़,

खांड, शक्ता और अमृतके समान माना है, और पापप्रकृतियोंका अनुभाग नीम, कांजीर, विष और हलाहलके समान माना है। यहाँ भी अनुभागका तीन प्रकारमें परिणामन जानना। अर्थात् पुण्य प्रकृतिसे गुड़ खांड, शक्ता और अमृतरूप या गुड़ और शक्ता रूप या गुड़ और खांड रूप अनुभाग होता है। और याप प्रकृतियोंमें नीम, कांजीर, विष और हलाहल रूप या नीम, कांजीर और विषरूप या नीम और कांजीरका अनुभाग होता है।

[४३] शंका-प्रदेश बन्धका विभाग किस क्रमसे होता है ?

[४३] समाधान-यदि आयु कर्मका भी बन्ध हो रहा है तो आयुकर्मको सबसे थोड़ा द्रव्य मिलता है। नाम और गोत्रमें प्रत्येकको इससे अधिक द्रव्य मिलता है तो भी इन दोनों कर्मोंका द्रव्य समान रहता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायमें प्रत्येकको इससे अधिक द्रव्य मिलता है तो भी इनका द्रव्य परस्पर समान होता है। इससे मोहनीय कर्मसे अधिक द्रव्य मिलता है और इससे वेदनीय कर्मको अधिक द्रव्य मिलता है। घातिया कर्मोंको जो द्रव्य मिलता है उसमें सर्वधाति द्रव्य सब घातिद्रव्यका अनन्तवाँ भाग होता है और देशधाति द्रव्य अनन्त बहुभाग होता है। इससे भी देशधाति द्रव्यका बटवारा देशधाति प्रकृतियोंमें ही होता है, किन्तु सर्वधाति द्रव्यका बटवारा देशधाति और सर्वधाति दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंमें होता है। परन्तु नी नोकषायोंको देशधाति द्रव्य ही प्राप्त होता है, सर्वधाति नहीं। इस प्रकार यह प्रदेशबन्ध विभागका क्रम जानना।

[४४] शंका-कर्मोंके जीवविपाकी और पुद्गल-विपाकी इस प्रकार भेद करनेका कारण क्या है ?

[४४] समाधान-जीवविपाकी कर्मोंके उदयसे जीवकी अवस्थाओंका निर्माण होता है और पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे

शरीर और उसकी सब अवस्थाओंका निर्माण होता है। आगममें जो गति आदि चौदह मार्गणारूप भेद किये हैं वे सब जीवविपाकी कर्मोंके उदयादिके कार्य हैं। इसलिए जीवविपाकी कर्मोंका नोआगमभाव निष्ठेप भी बन जाता है। क्योंकि जो आगमभावमें कर्मफलका भोगनेवाला जीव लिया जाता है, परन्तु पुद्गलविपाकी कर्मोंका नोआगम भावनिष्ठेप नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उनका फल जीवमें नहीं होता है। इसी सबबसे पुद्गलविपाकी कर्मोंके नोआगमनभावका निवेद किया है। यही सबब है कि कर्मोंके जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी ये दो भेद किये गये हैं।

नौवाँ अध्याय-

[४५] शंका-समिति संवरका कारण क्यों हैं ?

[४५] समाधान-समिति अशुभ प्रवृत्तिके निरोधका कारण है और शुभ प्रवृत्तिको संकुचित करती है इस प्रकार इसमें प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्तिकी प्रधानता है अतः समितिको संवरका कारण बतलाया है।

[४६] शंका-जब परीषहजय निर्जराका कारण है तो परीषहोंको बन्धका कारण मानना पड़ता है और ऐसी हालतमें बन्धके कारणोंमें परीषहोंको अलगसे गिनना चाहिये ?

[४६] समाधान-बन्धके कारणोंमें योगको छोड़कर शेष सारा परिवार मोहका है। योगको बन्धके कारणोंमें इसलिए गिनाया कि उसके निमित्तसे आत्मा कर्मोंको ग्रहण करता है परन्तु कर्मोंमें स्थित और अनुभागका मुख्य कारण तो क्याय ही है। अब देखना यह है कि किस कर्मके उदयसे कितनी परीषह होती है। ज्ञानावरणसे

और अज्ञान परीषह होती है। दर्शनमोहनीयसे अदर्शन परीषह होती है। अन्तराय कर्मसे अलाभ परीषह होती है। बारेत्रमोहनीयसे नाग्न्य, अरति, स्त्री, निष्ठा, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह होती है। तथा शेष परीषह वेदनीयके होने पर होती है। इस प्रकार इन परीषहोंके निमित्त हैं तो भी इनका कार्य मोहनीयके सद्भावमें ही होता है, मोहनीयके अभावमें नहीं। इस बातको बतलानेके लिये सूत्रकारने बन्धके कारणोंमें परीषहका अलगसे निर्देश नहीं किया। और कारणके सद्भावकी अपेक्षा परीषहोंका सद्भाव बतलानेके लिए जहाँ तक उनके कारण पाये जाते हैं तहाँ तक उनका निर्देश किया। इस प्रकार सबसे बड़ी परीषह मोहनीयका उदय है।

[४७] शंका-भाषासमिति और सत्यधर्ममें क्या अन्तर है ?

[४७] समाधान-भाषासमितिमें प्रवृत्ति करनेवाला मुनि, साधु और असाधुमें भाषा व्यवहार करता हुआ हित, मित, और प्रिय ही बोलता है यह तो भाषासमिति है। किन्तु सत्य धर्ममें इस प्रकार बोलनेका कोई लियम नहीं है। इसमें तो वे सब बातें समाविष्ट हैं जो दीक्षित और उनके भक्तोंके लिए ज्ञान और चारित्रका शिक्षण देते समय कही जाती है। भाषासमिति और सत्यधर्ममें यही अन्तर है।

[४८] शंका-जिनेन्द्रदेवमें ग्यारह परीषह बतलानेका कारण है ?

[४८] समाधान-वेदनीयकर्म मोहनीय कर्मके बिना अपना काम करनेमें पांगु है। आठ कर्मोंमें वेदनीय कर्मका पाठ जो धातिया कर्मोंके मध्यमें किया है, वह इसी प्रयोजनके दिखलानेके लिये किया है। चूंकि मोहनीय कर्मका समूल नाश दशबों गुणस्थानके अन्तमें हो जाता है इसलिए ग्यारहबों आदि गुणस्थानोंमें तत्त्वतः कोई परीषह

नहीं पाई जाती। तब भी जिन परीषहों के कारण ग्यारहवें आदि उग्रस्थानोंमें धित्तमत है, कारणकी अपेक्षा सद्बाव वहाँ बतलाया। चूंकि जिनन्ददेवके वेदनीयकर्मका उदय है और वेदनीयकर्मके सद्बावमें ग्यारह परीषह होती है इसलिए जिनन्ददेवके ग्यारह परीषह कही।

[४९] शंका-परीषह और उपसर्गमें क्या अन्तर है?

[४९] समाधान-परीषह व्यापक है और उपसर्ग व्याप्त। उपसर्ग पर निमित्त से ही होता है और परीषहके होनेमें ऐसा कोई नियम नहीं। यही सबब है कि उपसर्गजियको अलगसे संवरका कारण नहीं कहा। उपसर्गको परीषहमें ही सम्मिलित कर लिया गया है। यह दोनोंमें अन्तर है।

[५०] शंका-परीषह और कायवल्लेशमें क्या अन्तर है ?

[५०] समाधान-जो अन्तरंग या बाह्य निमित्तसे साधु की इच्छाके बिना अपने आप प्राप्त होती है वे परीषह हैं और कायवल्लेश स्वयंकृत होता है। इस प्रकार इन दोनोंमें यही अन्तर है।

[५१] शंका-आलोचना, प्रतिक्रमण और तदुभयमें क्या अन्तर है ?

[५१] समाधान-आलोचनाके दस दोषोंसे रहित होकर गुरुके समक्ष प्रमादका निवेदन करना आलोचना नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। परो दोष मिथ्या होओ इस प्रकार प्रतिकारको व्यक्त करना प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। और जिसमें आलोचना तथा प्रतिक्रमण ये दोनों किए जाते हैं उसे तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहते हैं। यद्यपि सभी प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक होते हैं

इसलिए प्रतिकमण और तदुभयमें क्लोइ भेद नहीं रहता है तो भी उनके भेदका कारण यह है कि प्रतिकमण नामके प्रायश्चितको शिव्य करता है जो गुरुके सामने दोषोंके निवेदन कर देनेपर उनकी आङ्गासे किया जाता है और तदुभय नामके प्रायश्चितको स्वयं गुरु कहता है। इस प्रकार इन तीनोंमें अन्तर जानना चाहिए।

[५२] शंका-धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहाँसे कहाँ तक ?

[५२] समाधान-सर्वार्थसिद्धिमें बतलाया है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंके चारों प्रकारका धर्मध्यान होता है। तथा शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे पृथक्कर्त्तव्यके बीचार नामक पहला ध्यान उपग्रह श्रेणीके सब गुणस्थानमें और क्षपक श्रेणीके दशवें गुणस्थान तक होता है। एकत्ववितके बीचार नामका दूसरा ध्यान क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामका तीसरा ध्यान संयोगकेवलीके काययोगके सूक्ष्म हो जानेपर होता है और व्युपरतक्रिया निवृति नामका चौथा ध्यान अयोगकेवलीके होता हैं किन्तु ध्वल टीकामें बतालाया हैं कि धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर दशवें गुणस्थान तक होता हैं। शुक्लध्यानका पहला भेद ग्यारहवें गुणस्थानमें होता हैं और दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानमें होता हैं। पहला भेद बारहवेंके प्रारम्भमें भी पाया जाता हैं। इतने अन्तरको छेड़कर शेष कथन सर्वार्थसिद्धिके समान हैं। इस मतभेदका कारण यह हैं कि वीरसेनस्वामीने बतलाया हैं कि सक्षाय अवस्थामें धर्मध्यान और क्षायरहित अवस्थामें शुक्लध्यान होता है किंतु सर्वार्थसिद्धिकारने धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें इस प्रकार अन्तर नहीं माना हैं। उनके मतसे श्रेणी आरोहणके पूर्वतक धर्मध्यान और श्रेणीमें शुक्लध्यान होता है। तत्त्वत

यह विवेकाभेद हैं।

[५३] शंका-गुणश्रेणी निर्जराका क्या कारण हैं ?

[५३] समाधान-सम्यादर्शनादिक गुण, गुणश्रेणी निर्जराका कारण है।

[५४] शंका-पुलाकादि मुनियोंमें बिन कारणोंसे भेद होता है ?

[५४] समाधान-ये सब मुनि निर्गच्छ हैं, केवल चारिकी न्युनाधिकताके कारण इन्हों भेद हैं। जो उत्तर गुणोंलो नहीं पालते किन्तु मूल गुणोंमें भी पूर्णताको नहीं प्राप्त है वे पुलाक मुनि कहलाते हैं। पुलाक प्यालको कहते हैं। वह जैसा सार भाग रहित होता है उसी प्रकार इन मुनियोंको जानना चाहिए। जो व्रतोंको तो पूरी तरह पालते हैं किन्तु शरीर और उपकरणोंको संस्कारित करते रहते हैं, ऋद्धि और यशकी अभिलाषा रखते हैं आदि वे बकुश मुनि कहलाते हैं।

कुशील मुनि दो प्रकारके हैं-प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो मूलगुणों और उत्तरगुणोंको पालते तो है पर कदाचित् उत्तरगुणोंकी विराधना कर लेते हैं वे प्रतिसेवनाकुशील मुनि कहलाते हैं। जो ग्रीष्मकालमें जंधाप्रक्षालन आदिके कारण अन्य कषायके उदयके आधीन होते हुए भी संञ्चलन कषाययुक्त हैं वे मुनि कषायकुशील मुनि कहलाते हैं। जिनके अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त होनेवाला है वे निर्गच्छ मुनि कहलाते हैं। जिन्होंने घातिया कर्मोंका नाश कर दिया है वे स्नातक मुनि कहलाते हैं। इस प्रकार उपर जो इनके लक्षण दिये हैं इन्हींसे इनके भेदका कारण ज्ञात हो जाता है।

दशवां अध्याय-

[५५] शंका-मोक्षमें भव्यत्व भावका नाश क्यों हो जाता है ?

[५५] समाधान-भव्यत्व और अभव्यत्व योग्यता-विशेषसे सम्बन्ध रखते हैं। ये जीवके स्वभाव नहीं। यदि इन्हें स्वभाव मान लिया जाय तो जिस प्रकार स्वभाव भेदसे पाँच अचेतन द्रव्य माने हैं उसी प्रकार स्वभाव भेदसे दो अचेतन द्रव्य हो जायेगे। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि शाकिकी अपेक्षा सबकी योग्यता समान मानी है। यह भेद तो केवल व्यक्ति होने और न होनेकी अपेक्षा किया गया है। अब जिसके व्यक्ति हो जाती है उसके भव्यत्व भावके माननेका कारण नहीं। जब तक पूर्व अवस्था अर्थात् कारण अवस्था हैं तभीतक भव्यत्व भावका व्यवहार होता है, कार्य अवस्थामें नहीं। उदाहरण विवक्षित मिठ्ठी घट बननेकी योग्यता अभीतक कही जाती है जबतक उसका घट रूपसे परिणामन नहीं हुआ। घट अवस्थाके उत्पन्न हो जानेपर तो इस मिठ्ठीमें घट बनने की योग्यता है यह व्यवहार समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। भव्यत्व और अभव्यत्व भावको जो पारिणामिक कहा है सो उसका कारण यह है कि इन भावोंके होनेमें कभीके उदयादिकी अपेक्षा नहीं पड़ती। इसी कारण मोक्षमें भव्यत्व भावका अभाव जल्लाया है।

[५६] शंका-मुक्त जीवोंका निवास कहाँ हैं ?

[५६] समाधान-लोकाग्रमें मनुष्यलोकके ठीक बराबर उसकी शोधमें सिद्धलोक है इसका ऊपरी भाग अलोकाकाशसे लगा हुआ है। और तनुबातबलयसे व्याप्त है वहीं सिद्ध जीवोंका निवास है। आठवीं पृथिवी जिसे सिद्धशिला कहते हैं सिद्धलोकसे बहुत नीचे है। सिद्ध जीवोंका इससे स्पर्श नहीं है।

लक्षण-संग्रह

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|---------------------|--------|-------|---------------------|--------|-------|
| अकामनिर्जरा | ६ | १२ | अनुकृत | १ | १६ |
| अक्षिग्र | १ | १६ | अनुगामी अवधिज्ञान | १ | २२ |
| आगारी | ७ | २० | अननुगामी अवधिज्ञान | १ | २२ |
| अग्रहीत मिथ्यादर्शन | ८ | २ | अनवस्थित | १ | २२ |
| अधातिधा | ८ | ४ | अनीक | ४ | ४ |
| अङ्गोपाङ्ग | ८ | १२ | अनपित | ५ | ३२ |
| अचक्षुर्दर्शन | ८ | ७ | अनाभोग | ५ | ५ |
| अचौर्याणुद्रवत | ७ | २० | अनाकौशा | ५ | ५ |
| अजीव | १ | ४ | अनुपत | ६ | ८ |
| अज्ञातभाव | ६ | ६ | अनुभोगनिष्ठेषापिकरण | ६ | ९ |
| अज्ञान | ८ | १ | अन्तराय | ६ | १० |
| अज्ञानपरीष्वरजय | ९ | ९ | अनुबीचिभाषण | ७ | ५ |
| अण्डज | २ | ३३ | अनुत-असत्य | ७ | १४ |
| अणु | ५ | २५ | अनगारी | ७ | २०टि |
| अणुद्रवत | ७ | ८ | अनर्थदण्डक्रत | ७ | २१ |
| अतिथिसंविभागवत | ७ | २१ | अन्यदुष्टिप्रशस्ता | ७ | २३ |
| अतिच्छार | ७ | २३ | अन्नपाननिरोध | ७ | २५ |
| अतिभासरोपण | ८ | २५ | अनङ्गकीडा | ७ | २८ |
| अदर्शन परीष्वह | ९ | ९ | अनादर | ७ | ३३ |
| अधिगमज सम्यदर्शन | १ | ३ | अनुभागबन्ध | ८ | ३ |
| अधिकरण क्रिया | ६ | ५ | अन्तराय | ८ | ४ |
| अधिकरण | ६ | ६ | अनुजीविगुण | ७ | ४टि |
| अधुव | १ | ६ | (टि.) अनंतानुबंधी | ८ | ९ |
| अधोव्यतिक्रम | ७ | ३० | अन्तर्मुहूर्त | ८ | २०टि |
| अन्तर | १ | ८ | अनुभवबन्ध | ८ | २१ |
| अनिःसृत | १ | १६ | अनुप्रेक्षा | ९ | २ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|-----------------------------|--------|-------|----------------------|--------|-------|
| अनित्यानुप्रेक्षा | १ | ७ | अहंद्विल | ६ | २४ |
| अनशन | १ | २५ | अल्पवहुत्व | १ | ९ |
| अनुप्रेक्षा | १ | २५ | अलाभ परिषहजय | १ | ९ |
| अनिष्टसंयोगजआर्तध्यान | १ | २५ | अल्पवहुत्व | १० | ९ |
| अनन्त वियोजक | १ | ४५८ | अवधिज्ञान | १ | ९ |
| उद्दत्त | १० | ६ | अवदह | १ | १५ |
| आप्रत्याख्यान | ६ | ५ | अवाय | १ | १५ |
| आप्रत्यवेक्षितनिक्षेपा. | ६ | ९ | अवस्थित | १ | २२ |
| अपध्यान | ७ | २१ | अविग्रहवती | २ | २७ |
| अपरिगृहीतेत्वरिकागमन | ७ | २८ | अवरणवाद | ६ | १३ |
| अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितो. | ७ | ३४ | अविरति | ८ | १ |
| अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादान | ७ | ३४ | अवधिज्ञानावरण | ८ | ६ |
| अप्रत्यख्यानावरण | ८ | ९ | अवधिदर्शनावरण | ८ | ७ |
| अपर्याप्त नामकर्म | ८ | ११ | अविपक्त निर्जरा | ८ | २३ |
| अपर्याप्तक | ८ | ११ | अवमोदय | ९ | १४ |
| अपायविचय | ९ | १६ | अवगाहन | १० | १ |
| अन्नहकुशील | ७ | २६ | अशुभ योग | ६ | ३ |
| अभिनिष्ठोध | १ | १३ | अशणानुप्रेक्षा | १ | ७ |
| अभीक्षण ज्ञानोपयोग | ६ | २४ | अशुचित्यानुप्रेक्षा | १ | ७ |
| अभिषयाहार | ७ | ३५ | अशुभ | ८ | ११ |
| अपनस्क | २ | ११ | अस्तिकाय | ५ | १८ |
| अयशःकीर्ति | ८ | ११ | असमीक्ष्याधिकरण | ७ | २३ |
| अरति | ८ | ११ | असद्वेद्य | ८ | ८ |
| अरति परिषहजय | ९ | ९ | असंप्राप्तसुपाटिकास. | ८ | ११ |
| अर्थ संकौति | ९ | ४४ | अस्थिर | ८ | ११ |
| अर्थाविगाह | ९ | १८ | अहिसाप्तुव्रत | ७ | २० |
| अपित | ५ | ३२ | आकृत्तन | ६ | १९ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र | |
|------------------------|--------|-------|--------------------|-----------|-------|----|
| आक्रोश | १ | २ | इष्टविद्योगज | आर्तध्यान | १ | ३१ |
| आचार्यभक्ति | ६ | २४ | इन्द्रिय | | २ | १४ |
| आचार्य | १ | २४ | इन्द्र | | ४ | ४ |
| आज्ञाव्यापादिकी | १ | ३५ | इर्यापिश्च आस्त्रव | | ६ | ४ |
| आज्ञा विचय | १ | ३६ | इर्यापिश्च क्रिया | | ६ | ५ |
| उत्स्मरण | १ | ४५ | इर्यासिद्धिति | | ७ | ४ |
| आतप | ८ | ११ | इर्या | | ९ | ५ |
| आदाननिश्चेपणासमिति | ७ | ४ | इहा | | १ | १५ |
| आदेय | ८ | ११ | उच्छवास | | ८ | ११ |
| आदान निश्चेप | १ | ५ | उच्चगोत्र | | ८ | १२ |
| आनथन | ७ | १ | उत्सर्पिणी | | ६ | २७ |
| आनुपूर्व | ८ | ११ | उत्पाद | | ५ | ३० |
| आभियोग्य | ४ | ४ | उत्तम क्षमा | | १ | ६ |
| आभ्यतरोपाधि व्युत्सर्ग | १ | ३६ | उत्तम मार्दव | | १ | ६ |
| आत्माय | १ | २४ | उत्तम आर्जव | | १ | ६ |
| आयु | ३ | ३६ | उत्तम शौच | | १ | ६ |
| आरम्भ | ६ | ८ | उत्तम सत्य | | १ | ६ |
| आर्तध्यान | १ | ३३ | उत्तम संयम | | १ | ६ |
| आलोकितपानभोजन | ७ | ४ | उत्तम तप | | १ | ६ |
| आलोचना | १ | २२ | उत्तम त्याग | | १ | ६ |
| आवश्यकपरिहाणि | ६ | २४ | उत्तम आकिञ्चन्य | | १ | ६ |
| आसादन | ६ | १० | उत्तम ब्रह्मचर्य | | १ | ६ |
| आस्त्र | १ | ४ | उत्सर्ग | | १ | ५ |
| आस्त्रवानुप्रेक्षा | १ | ५ | उदय-औदयिक भाव | | २ | १ |
| आस्त्रव | ६ | १ | उद्योत | | ८ | ११ |
| आहार | २ | २७ | उपशम औपशमिक भाव | | २ | १ |
| आहारक | २ | ३६ | उपर्योग | | २ | ८ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|--------------------|--------|-------|------------------------|--------|-------|
| उपकरण | २ | १७ | कृत | ६ | ८ |
| उपयोग | २ | १८ | कन्दपं | ७ | ३२ |
| उपपाद जन्म | २ | ३१ | कषाय | ८ | १ |
| उपकरण-संयोग | ६ | १ | कषाय कुशील | ९ | ४६ |
| उपधात | ६ | १० | काले | १ | ८ |
| उपभोग परिभोग प. | ७ | २१ | कार्मण शरीर | २ | ३८ |
| उपधात | ८ | ११ | कायद्योग | ६ | १ |
| उपस्थापना | ९ | २२ | कायिकी क्रिया | ६ | ५ |
| उपचार विनिमय | ९ | २३ | कारित | ६ | ८ |
| उपाध्याय | ९ | २४ | काथ निसर्ग | ६ | ९ |
| ऊर्ध्वव्यतिक्रम | ९ | ३० | कारुण्य | ७ | ११ |
| ऋग्युग्मि भनःपद्यं | १ | २२ | काक्षा | ७ | ३५ |
| ऋग्युसूत्र | १ | ३३ | कामतीक्ष्णाभिनिवेश | ७ | २८ |
| एकविधि | १ | १६ | कायद्योग दुष्प्राणिधान | ७ | ३३ |
| एकान्त मिथ्यात्व | ८ | १ | कालातिक्रम | ७ | ३६ |
| एकत्वानुप्रेक्षा | ९ | ७ | कायक्लेश | १ | ११ |
| एकत्ववितर्क | ९ | ४२ | काल | १० | १ |
| एवंभूत नय | १ | ४३ | किल्विषक | ४ | ४ |
| एषणासमिति | ९ | ५ | क्रिया | ५ | २२ |
| औपशमिक सम्बन्ध | २ | ३ | कीलक संहनन | ८ | ११ |
| औपशमिक चारित्र | २ | ३ | कुप्य-प्रमाणातिक्रम | ७ | २९ |
| कर्मयोग | २ | २५ | कुञ्जक संस्थान | ८ | १२ |
| कर्मभूमि | ३ | ३७ | कुल | ९ | २४ |
| कल्पोपपत्र | ४ | १७ | कुशील | ९ | ४६ |
| कल्पातीत | ४ | १७ | कूटलेखा क्रिया | ७ | २६ |
| कल्प | ४ | २३ | कृत | ६ | ८ |
| कषाय | ६ | ४ | केवलज्ञान | १ | १ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|----------------------------|--------|-------|---------------------|--------|-------|
| केवलज्ञान | २ | ४ | ग्लान | १ | २० |
| केवलदर्शन | २ | ४ | गुणप्रत्यय | १ | २१ |
| केवलीका अवर्णवाद | ६ | १३ | गुण | ५ | ३८ |
| केवलज्ञानावरण | ८ | ६ | गुण | ५ | ३४ |
| केवलदर्शनावरण | ८ | ७ | गुण | ५ | ४१ |
| कोथ प्रत्याख्यान | ७ | ५ | गुणव्रत | ७ | २०टि |
| कोङ्काकोङ्गी | ८ | १४टि | गुप्ति | ४ | २ |
| कौत्कुच्य | ७ | ३२ | गुणस्थान | ४ | १०टि |
| क्षय क्षायिकभाव | २ | १ | गृहीत मिथ्यात्म | ८ | १ |
| क्षयोपशम - क्षयोपशम | २ | १ | गोत्र | ८ | ४ |
| क्षयोपशम दानादि | २ | ४ | घातियाकर्म | ८ | ४ |
| क्षायिक सम्बन्ध | २ | ४ | चमूर्दर्शनावरण | ८ | ७ |
| क्षायिक चरित्र | २ | ४ | चर्यापरिषहज्य | ९ | २ |
| क्षयोपशमिक सम्बन्ध | २ | ५ | चरित्र | ९ | २ |
| क्षयोपशमिक चरित्र | २ | ५ | चरित्रविनय | ९ | २३ |
| क्षान्ति | ३ | १२ | चरित्र | १० | ९ |
| क्षिप्र | १ | १६ | चिन्ता | १ | १३ |
| क्षुपापरीषह जय | १ | १ | छेद | ७ | २५ |
| क्षेत्र | १ | ८ | छेदोपस्थापना | १ | १८ |
| क्षेत्र | १० | ९ | छेद | १ | २२ |
| क्षेत्रावस्तुप्रमाणातिक्रम | ७ | २९ | जघन्यगुणसहित परमाणु | ५ | ३४ |
| क्षेत्रवृद्धि | ७ | ३० | जरायुज | २ | ३२ |
| गर्भजन्म | २ | ३१ | जाति नामकर्म | ८ | ३१ |
| गति नामकर्म | ८ | ११ | जीव | १ | ४ |
| गन्ध | ८ | १२ | जीविताशसा | ७ | ३७ |
| गण | १ | २४ | जुगुप्सा | ८ | १ |
| गति | १० | ९ | ज्ञातभाव | ६ | ६ |

| शब्द | अध्याय [सूत्र] | शब्द | अध्याय [सूत्र] | | |
|----------------------|----------------|------|---------------------------|---|-----|
| ज्ञानोपयोग | २ | १६ | द्रव्य | १ | ५ |
| ज्ञानावरण | ८ | ४ | द्रव्याधिक नय | १ | ६ |
| ज्ञानविनय | ९ | २३ | द्रव्य | ५ | २९ |
| ज्ञान | १० | ९ | द्रव्येन्द्रिय | २ | १७ |
| तदाहतादान | ७ | १७ | द्रव्य | ५ | २८ |
| तदुभव | ९ | २२ | द्रव्य विशेष | ५ | ३५ |
| तन्मनोहरांग निरीक्षण | ७ | ७ | द्रव्यसंवर | १ | ९ |
| तप | १ | २२ | दातुविशेष | ७ | ३९ |
| तपस्वी | १ | २४ | दानान्तराय आदि | ८ | १३ |
| ताप | ६ | ११ | दान | ७ | ३८ |
| तिर्यञ्ज | ४ | २७ | दासीदास-प्रमाणातिक्रम | ७ | २९ |
| तिर्यगव्यतिक्रम | ७ | ३७ | दिग्द्वत | ७ | २१६ |
| तीव्रभाव | ६ | ६ | दुःप्रभृष्ट निष्ठेपाधिकरण | ६ | ९ |
| तीर्थकरत्व | ८ | ११ | दुर्खा | ६ | ११ |
| तीर्थ | १० | १ | दुःश्रुति | ७ | २५ |
| तृष्णा परीष्वहजय | १ | १ | दुःस्वर | ८ | ११ |
| तुणास्पर्श परीष्वहजय | १ | १ | दुर्भग | ८ | ११ |
| तैजस शरीर | २ | २६ | दुःपक्वाहार | ७ | ३५ |
| त्रस | २ | १४ | देव | ४ | ३ |
| त्रस | ८ | १ | देवका अवर्णवाद | ६ | ११ |
| त्रायस्तिश | ४ | ४ | धन धान्य प्रमाणातिक्रम | ७ | २९ |
| दर्शनोपयोग | २ | १६ | धर्मका अवर्णवाद | ६ | १३ |
| दर्शन क्रिया | ६ | ५ | धर्म | १ | २ |
| दर्शनिक्षिणुद्भि | ६ | २४ | धर्मानुग्रेश्चा | १ | ७ |
| दर्शनावरण | ८ | ४ | धर्मोपदेश | १ | २५ |
| दर्शनविनय | ९ | २३ | धारणा | १ | १५ |
| दर्शमशक परीष्वहजय | २ | १ | ध्यान | १ | २० |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|---------------------|--------|-------|------------------------|--------|-------|
| ध्यान | १ | २७ | निर्माण | ६ | ११ |
| ध्रुव | १ | १६ | निवृत्यपर्याप्तिक | ८ | ११८ |
| धौत्य | ५ | ३१ | निर्जरानुप्रेक्षा | ९ | ७ |
| नय | १ | ५ | निषट्टा परीषहजय | ९ | ७ |
| नपुंसकवेद | ८ | ९ | निदान आर्तध्यान | ९ | ३१ |
| नरकायु | ८ | १० | निर्ग्रन्थ | ९ | ४६ |
| नरकगत्यानुपूर्व आदि | ८ | ११ | नीचगोत्र | ८ | १२ |
| नाम | १ | ५ | नैगम नय | १ | ३३ |
| नाम | ८ | ४ | न्यासापहार | ७ | २४ |
| नाराज्ञ संहनन | ८ | ११ | न्यग्रोधपरिमेडलसंस्थान | ८ | ११ |
| नान्य परीषहजय | १ | ९ | परोक्षप्रमाण | १ | ६ |
| निसर्ग सम्प्रदर्शन | १ | ३ | परिणाम | ५ | २२ |
| निर्जरा | १ | ४ | परिणाम पर्याय | ५ | ४२ |
| निष्ठेप | १ | ५ | परिदेवन | ६ | ११ |
| निर्देश | १ | ७ | परोपरोधाकरण | ७ | ६ |
| निःसूत | १ | १६ | परियह | ७ | १७ |
| निवृत्त | २ | १० | परिग्रहपरिमाणाणुब्रत | ७ | २० |
| निश्चय कालद्रव्य | ५ | ४० | परिविवाहकरण | ७ | २८ |
| निसर्ग क्रिया | ६ | ५ | परिगृहीतेत्वरिकागमन | ७ | २८ |
| निर्बर्तना | ६ | ९ | परव्यपदेश | ७ | ३६ |
| निष्ठेप | ६ | ९ | परधात | ८ | ११ |
| निसर्ग | ६ | ९ | परिषहजय | ९ | २ |
| निहृत | ६ | १० | परिहारविशुद्धि | ९ | १८ |
| निदान शल्य | ६ | १८ | परिहार | ९ | २२ |
| निदान | ६ | ३७ | परिग्रहानन्दी रीढध्यान | ९ | ३५ |
| निद्रा | ८ | ७ | परत्यापरत्व | ८ | २२ |
| निद्रानिद्रा | ८ | ७ | पर्याप्तक | ८ | ११८ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|-------------------|--------|-------|-----------------------|--------|-------|
| पर्यासि नामकर्म | ८ | ११ | प्रतिसेवना कुशील | ९ | ४६ |
| पर्याय | ५ | ३२ | प्रत्येकबुद्धिभोधित | १० | ९ |
| पर्यायार्थिक नय | १ | ६ | परिषद | ४ | ४ |
| प्रमाण | १ | ५ | पाप | ६ | ३ |
| प्रत्यक्ष प्रमाण | २ | ४ | पारितापकी क्रिया | ६ | ५ |
| प्रकीर्णक | ४ | ४ | पारिग्रहिकी क्रिया | ६ | ५ |
| प्रवीचार | ४ | ५ | पापोपदेश | ५ | २६८ |
| प्रदेश | ५ | ८ | पात्रविशेष | ६ | ३९ |
| प्रदोष | ६ | १० | प्रायश्चित्त | ९ | २० |
| प्रवचन भक्ति | ६ | २४ | प्रयोग क्रिया | ६ | ५ |
| प्रवचन बत्सलत्व | ६ | २४ | प्रादोषिकी क्रिया | ६ | ५ |
| प्रमोद | ७ | ११ | पारितापिकी क्रिया | ६ | ५ |
| प्रमादज्ञर्या | ७ | २१ | प्राणातिपातिकी क्रिया | ६ | ५ |
| प्रतिरूपक व्यवहार | ७ | २७ | पारिग्रहवी क्रिया | ६ | ५ |
| प्रमाद | ८ | १ | प्रारम्भ क्रिया | ६ | ५ |
| प्रकृतिबन्ध | ८ | ३ | पुर्वेद | ८ | |
| प्रदेशबन्ध | ८ | ३ | पुद्गल | ५ | २२ |
| प्रतिजीवि गुण | ८ | ४ | पुद्गलक्षेष | ७ | ३१ |
| प्रचला | ८ | ७ | पुण्य | ६ | ३ |
| प्रचलाप्रचला | ८ | ७ | पुरस्कार | ९ | ५ |
| प्रत्याऽङ्गोऽमाऽ | ८ | ९ | पुलाक | ९ | ४६ |
| प्रत्येक शरीर | ८ | ११ | पूर्वरतानुस्परण योग | ७ | ७ |
| प्रदेशबन्ध | ९ | २४ | पूर्यक्तव्यवितर्क | ९ | ४८ |
| प्रज्ञापरिषहजय | ९ | ९ | प्रेक्ष्यप्रयोग | ७ | ३१ |
| प्रतिक्रमण | ९ | २२ | पौत | २ | २३ |
| प्रचलना | ९ | २५ | प्रोष्ठधोपवास | ७ | ३१ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|----------------------|--------|-------|--------------------|--------|-------|
| वकुश | १ | ४६ | भोग | १७ | २१टि |
| वन्ध | १ | ४ | पतिज्ञान | १ | १ |
| वन्ध | ५ | २३ | मति | १ | १३ |
| वन्ध | ७ | २५ | पतिज्ञानवरण | ८ | ६ |
| वन्ध तत्व | ८ | २ | मन्दभाव | ६ | ६ |
| वन्धन | ८ | ११ | मनोनिर्सर्ग | ६ | १० |
| वह | १ | १६ | मनोवाग्गुति | ७ | ८ |
| वहुविधि | १ | १६ | मनोयोग दुष्टाणिधान | ७ | ३८ |
| वहुश्रुतभक्ति | ६ | २४ | मनःपर्यवज्ञान | १ | १ |
| वादर | ८ | ११ | मनःपर्यवज्ञानवरण | ८ | ६ |
| वालताप | ६ | १२ | मनोज | १ | २४ |
| वाहोपथि व्युत्सर्ग | १ | २६ | मरणाशर्शसा | ७ | ३७ |
| ओधिदुर्लभानुप्रेक्षा | १ | ७ | मलपरीषहजय | ७ | ९ |
| भक्तपानसंयोग | ६ | १ | महाब्रत | ७ | २ |
| भय | ७ | १ | मार्याकिया | ६ | ५ |
| भयप्रत्यय | १ | २१ | मात्सर्य | ६ | २४ |
| भाव | १ | ५ | मार्ग प्रभावना | ७ | २४ |
| भाव | १ | ८ | माध्यस्थ्य | ७ | ११ |
| भावेन्द्रिय | २ | १८ | मायाशर्श्य | ७ | १८ |
| भावना | ७ | ३ | मात्सर्य | ७ | २६ |
| भावसंवर | १ | १ | मिथ्यात्व क्रिया | ६ | ५ |
| भाषासमिति | १ | ५ | मिथ्यादर्शन क्रिया | ६ | ५ |
| भीरुत्व प्रत्याख्यान | ७ | ५ | मिथ्यात्वशल्य | ७ | १८ |
| भूतद्रव्यनुकम्पा | ६ | ११ | मिथ्योपदेश | ७ | २६ |
| भेद्यशुद्धि | ७ | १६ | मिथ्यादर्शन | ८ | १ |
| भोगभूमि | ३ | टि० | मिथ्यात्वप्रकृति | ८ | १ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|---------------------|--------|-------|---------------------|--------|-------|
| मुक्त | २ | १० | लक्ष्यपर्याप्तिक | ८ | ११दि |
| मुहूर्त | ८ | १८दि | लिङ्ग | १० | ९ |
| मूलगुणनिर्वर्तीः | ६ | ५ | लोक | ८ | ८दि |
| मृच्छा | ७ | १७ | लोकपाल | ४ | ४ |
| मुषानन्दी रीढ़ध्यान | ९ | ३५ | लोकानुप्रेक्षा | ५ | ५ |
| मन्त्री | ७ | ११ | लोभ प्रत्याख्यान | ७ | ५ |
| मोक्ष | १ | ४ | लौकान्तिक देव | ४ | २४ |
| मोक्ष | १० | २ | वर्धमान | १ | २१ |
| मोहनीय | ८ | ४ | वर्तना | ५ | २२ |
| मौखिय | ७ | ३२ | वचन योग | ६ | १ |
| म्लेच्छ | ३ | ३६ | वज्रवृषभनाराच संहनन | ८ | ११ |
| यथार्थ्यात् चरित्र | ८ | १ | वज्रनाराच संहनन | ८ | ११ |
| यथार्थ्यात् चारित्र | ९ | १८ | वध | ८ | ११ |
| यशः कीर्ति | ९ | ११ | व्रत | ७ | १ |
| याचना परीषहजय | ९ | १ | वध | ७ | २५ |
| योग | ६ | १३ | वर्ण | ८ | ११ |
| योग | ८ | १ | वाडनिसर्ग | ६ | ९ |
| योग संक्लान्ति | ९ | ४ | वाग्मुसि | ७ | ४ |
| सति | ८ | १ | वापन संस्थान | ८ | ११ |
| रस | ८ | ११ | वायोगदुष्प्रियधान | ८ | ३३ |
| रस परित्याग | ९ | ११ | वाचना | १ | २५ |
| रहोभ्याख्यान | ७ | २६ | विधान | १ | ७ |
| रूपानुपात | ७ | ३१ | विपुलभृति | १ | २३ |
| रोग परीषहजय | ९ | १ | विश्रहगति | २ | १ |
| लक्ष्य | २ | १८ | विश्रहवती | २ | २७ |
| लक्ष्य | २ | ४९ | निवृत्योनि | २ | ३२ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|----------------------|--------|-------|----------------------|--------|-------|
| विमान | ४ | १६ | व्यवहारनय | १ | ३३ |
| विदारणक्रिया | ६ | ५ | व्यय | ५ | ३० |
| विसंवादन | ६ | २२ | व्युत्सर्ग | ९ | २० |
| विनयसंप्रत्ता | ६ | २४ | व्युत्सर्ग | ९ | २२ |
| निपोचितावास | ६ | ७ | व्युपरतक्रियानिवर्ति | ९ | ४३ |
| थिच्चिकित्सा | ७ | २३ | व्यञ्जनसंक्रान्ति | ९ | ४४ |
| विनय | ९ | २९ | शब्दनय | १ | ३३ |
| विवेक | ९ | २३ | शक्ति त्याग | ६ | २४ |
| विपाकविच्चय | ९ | ३६ | शक्तिस्थप | ६ | २४ |
| विरुद्ध राज्यातिक्रम | ९ | २५ | शत्य | ७ | १८ |
| विधिविशेष | ९ | ३९ | शब्दानुपात | ८ | ३१ |
| विपरीत पिण्ड्यात्म | ८ | १ | शरीर नामकर्म | ८ | ११ |
| विहायोगति | ८ | ११ | शत्यापरीषहजय | ९ | ९ |
| विविक्त शास्त्रासन | ९ | ११ | शङ्का | ७ | ३३ |
| वीर्यभाव | ६ | ६ | शिष्ठाक्रत | ७ | २१टि. |
| वीचार | ९ | ४४ | शीलद्वतेष्वनतिचार | ६ | २४ |
| वृत्तिपरिसंख्यान | ९ | ११ | शीतपरीषहजय | ९ | ९ |
| वृद्धेष्ट्रसत्याग | ७ | ७ | शुभोपयोग | ६ | ६ |
| वेदनीय कर्म | ८ | ४ | शून्यागारवास | ७ | ६ |
| वेदनाजन्य आर्तश्यान | ९ | ३२ | शैक्ष्य | ९ | २४ |
| वैक्रियिक शरीर | २ | ३६ | शोक | ६ | ११ |
| वैमानिक | ४ | १६ | शोक | ८ | ९ |
| वैयावृत्यकरण | ६ | ४२ | शौच | ६ | १२ |
| वैयावृत्त | ९ | २० | श्रुत | १ | ९ |
| वैनियिक पिण्ड्यात्म | ८ | १ | श्रुतका अवर्णवाद | ६ | १३ |
| व्यञ्जनावयह | ९ | १८ | श्रुतज्ञानावरण | ८ | ६ |

| शब्द | अध्याय | सूत्र | शब्द | अध्याय | सूत्र |
|---------------------|--------|-------|-----------------------|--------|-------|
| श्रेणी | २ | १५ | सराग संयमादियोग | ६ | १२ |
| सम्याजान | १ | १ | संघ का अवण्डाद | ६ | १३ |
| सम्यकुचारित्र | १ | १ | संवेग | ६ | २४ |
| सम्यग्दर्शन | १ | २ | सधमाविसम्बाद | ७ | ६ |
| संवर | १ | ४ | सत्याणुव्रत | ७ | २० |
| सत् | १ | ८ | सल्लेखना | ७ | २२ |
| संज्ञा | १ | १३ | सचिन्ताहार | ७ | ३५ |
| संग्रहनय | १३ | ३ | सचिन्त सम्बन्धाहार | ७ | ३५ |
| समभिरुद नय | १ | ३३ | सचिन्त सम्मिश्राहार | ७ | ३५ |
| संयमासंयम | २ | ३३ | सचिन्ति निष्ठोप | ७ | ३६ |
| संसारी | २ | १० | संशय मिथ्यात्व | ८ | १ |
| समनस्क | २ | ११ | सद्देव | ८ | ८ |
| संज्ञा | २ | १४ | सम्यग्मित्यात्म | ८ | ९ |
| सम्पूर्छन जन्म | २ | ३५ | संख्यलमक्तोऽपालोभ | ८ | ९ |
| सचिन्तयोनि | २ | ३२ | संघात | ८ | ११ |
| संवृत्तयोनि | २ | ३२ | संस्थान | ८ | ११ |
| समुद्रत | २ | १६८ | समचतुरस्त संस्थान | ८ | ११ |
| समय | ५ | ४४ | संहनन | ८ | ११ |
| सम्यक्त्व क्रिया | ६ | ५ | सविपाक्निर्जरा | ८ | २३ |
| समादान क्रिया | ३ | ५ | संवर | ९ | १ |
| सत् | ५ | ३० | समिति | ९ | १ |
| समन्तानुपात क्रिया | ६ | ५ | संसारानुप्रेक्षा | ९ | ७ |
| समरभ | ६ | ८ | संवरानुप्रेक्षा | ९ | ७ |
| समारभ | ६ | ८ | सत्काम्पुरस्कारपीशहजय | ९ | ९ |
| सहसा निष्ठोपाधिकरण | ६ | ९ | सत्कार | ९ | ९ |
| संयोग निष्ठोपाधिकरण | ६ | ९ | संघ | ९ | २४ |

| [शब्द] | [अध्याय] | [सूत्र] | [शब्द] | [अध्याय] | [सूत्र] |
|-------------------------|----------|---------|----------------------------|----------|---------|
| संस्थान | १ | ३६ | स्तेय-चोरी | ७ | १५ |
| संख्या | १० | १ | स्तेनप्रयोग | ७ | ३७ |
| साधन | १ | ७ | स्मृत्यन्तरायध्यान | ७ | ३० |
| सामानिक | ४ | ४ | स्मृत्यनुपस्थान | ७ | ३८ |
| साप्तरायिक आस्वद | ६ | ४ | स्मृत्यनुपस्थान | ७ | ३४ |
| साधुसमाधि | ६ | २४ | स्थितिबन्ध | ८ | ३ |
| सामायिक | ७ | २१ | स्थानगृहिणी | ८ | ७ |
| साकार मन्त्रभेद | ७ | २६ | स्त्रीवेद | ८ | ९ |
| साधारण शरीर | ८ | ११ | स्वहपाचरण चारित्र | ८ | ९ |
| सामायिक | ९ | १८ | स्थाति संस्थान | ८ | ११ |
| साधु | ९ | २४ | स्पर्श | ८ | ११ |
| सुखानुबन्ध | ७ | ३७ | स्थावर नामकर्म | ८ | ११ |
| सूभग | ८ | ११ | स्थिर | ८ | ११ |
| सुस्वर | ८ | ११ | स्त्रीघरीशहजय | ९ | १ |
| सूक्ष्म | ८ | ११ | स्वाध्याय | ९ | २० |
| सूक्ष्मसाप्तराय | ८ | २८ | स्तेयानन्दी रीढ़ध्यान | ९ | ३५ |
| स्थापना | १ | ५ | स्नातक | ९ | ४३ |
| स्वामित्व | १ | ७ | हास्य प्रत्याख्यान | ७ | ५ |
| स्थिति | १ | ७ | हास्य | ८ | १ |
| स्पर्शन | १ | ८ | हिरण्यसुवर्णप्रिमाणातिक्रम | ७ | २९ |
| स्मृति | १ | १३ | हिंसा | ७ | १३ |
| स्थावर | २ | १३ | हिंसादान | ७ | २१ |
| स्त्रभ | ५ | २५ | हिंसानन्दी रीढ़ध्यान | ९ | ३५ |
| स्पर्शन क्रिया | ६ | ५ | हीनाधिकमानोन्मान | ७ | ३७ |
| स्वहस्त क्रिया | ६ | ५ | हीयमान अवधि | १ | २१ |
| स्त्रीरागकथा श्रवणत्याग | ७ | ७ | हुण्डक संस्थान | ८ | ११ |
| स्वशरीसंस्कार त्याग | ७ | ७ | | | |

प्रश्नपत्र

दानवीर माणिकचन्द द्वि. जैन परीक्षालय-बाम्बई
(समय ३ घण्टे) मोक्षशास्त्र (पृष्ठांक १००)

- प्र. १-** निम्नलिखित ५ सूत्रोंका स्पष्ट अर्थ लिखिये। २०
- १-तदिद्वियानिद्वियनिमित्तम्।
 - २-ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।
 - ३-तदभावाव्ययं नित्यम्।
 - ४-तद्विषययो नीचैवृत्यनुत्सेकी चोनरस्य।
 - ५-तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।
 - ६-तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।
- प्र. २-** निम्नलिखित में से १० शब्दों की परिभाषा समझाकर २०
लिखिये।
- अभिनिबोध, अनिःसृत, आहारक शरीर, अभियोग,
आसादन, अपायावद्यादर्शनम्, अपरिगृहीतेत्वरिका गमन,
अप्रत्याख्यानावरण, अदर्शन, आप्नाय, अपायविचय।
- प्र. ३-** ४, ७, ११, १३ वें स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंकी २०
जघन्योत्कृष्ट स्थिति लिखकर, तुम्हारे भाव जन्म शरीर,
संस्थान व संहनन, कितने २ कौन कौन होते हैं स्पष्ट
समझाकर लिखिये।
- प्र. ४-** किन्हीं ५ के उत्तर समझाकर लिखिये। २०
- १- अनाहारकका लक्षण लिखें, जाब अनाहारक कबतक
क्यों रहता है लिखें।
 - २- देवोंमें प्रवीचार कहांतक कैसे २ सम्भव हैं ? व कहां
तक सम्भव नहीं हैं।
 - ३- गैवध्यान का लक्षण लिखें, इसके स्वामी कौनर हैं?

- ४- परीषहका लक्षण लिखें, परीषह क्यों सहन की जाती हैं लिखिये।
- ५- सप्तनयोंपर या सम्बन्धज्ञान पर दो पृष्ठों पर एक लेख लिखिये।

अथवा

जहाँ तुम रहते हो उस लोकका नकशा खींचकर २०
स्वर्ग-नरक बनाकर, प्रथम नरकके कितने भाग होते हैं और उनमें कौन कौन रहते हैं ? स्पष्ट लिखें।

प्रश्नपत्र

भा. दि. जैन महासभा परीक्षाबोर्ड
मोक्षशास्त्र पूर्ण

(समयों होरात्रयम्) प्रवेशिका तृतीय खण्ड (पूर्णांक १००

- प्र. १- किन्हीं ८ शब्दोंकी परिभाषा लिखिये। २०
संज्ञा, संग्रहनय, संयमासंयम, सम्मूर्च्छनज्ञम्, संधात,
साकारपंत्रभेद, संहनन, संस्थानविच्छय, सूक्ष्म साप्तराय
चारित्र, सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति श्यान।
- प्र. २- किन्हीं ५ सूत्रोंका अर्थ करो। २०
- (च) परतः परतः पूर्वपूर्वानन्तरा।
(छ) भेद संघातेभ्य उत्यद्यन्ते।
(ज) परात्मनिन्दा प्रशंसे सदसद् गुणोक्तादनद्भावन
त्र नीचैर्गोत्रस्य।
(झ) हिंसादिव्यहामुत्रापायवद्य दर्शनम्।
(ब) विपरीत मनोज्ञस्य।
(स) वीचारोऽर्थं व्यञ्जनयोग संक्रान्तिः।
(ह) एकाश्रये सवितकं वीचारे पूर्वे।

- प्र.३- धातियों कर्मोंकी, तथा ३-६-१०-१४ वें स्वर्गमें
रहनेवाले देवों की जघन्योत्कृष्ट स्थिति लिखकर
वैमानिक देवोंमें हीनामित्रताके कारण ससत्र लिखो।
- प्र.४- अचीर्याणुव्रतकी भावनाएँ व अनर्थदण्डव्रत के अतिबार
लिखकर, पत्नाणुजोंमें बन्ध होने के कौन कौन कारण
हैं सप्तमाण लिखिये।
- प्र.५- किसी एक विषय पर दो येजका निर्धारण लिखिये।
सात तत्व अथवा सप्तक्चारित्र।

अथवा

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका

- प्र.१- मलयाचरण का अर्थ लिखकर, द्वीन्द्रिय व असंज्ञी
पञ्चेन्द्रिय जीवके कितने कितने व कौन कौन शरीर,
पर्याप्ति व प्राण होते हैं लिखो।
- प्र.२- कर्म किसे कहते हैं, वे कितने व कौन कौन हैं, उन
सबकी जघन्योत्कृष्ट स्थिति लिखकर सागर व
अर्द्धपत्त्व की परिभाषा समझाओ।
- प्र.३- किन्हीं ८ शब्दोंके स्वरूप लिखिये।
अनात्मपृत लक्षण, आगम प्रमाण, अस्तित्वगुण,
अन्यात्माभाष, अवाय, अर्धनाराच संहनन, अपकर्षण,
अविरत, आभ्यानर निर्वृति, अप्रतिष्ठित, प्रत्येक।
- प्र.४- निष्प्रलिखित प्रश्नोंके उत्तर दीजिये।
- (१) तीर्थीकर पदवीधारी पुरुष कहाँर जन्म लेते हैं ?
 - (२) अस्थिकाय कौन कौन द्रव्य हैं व क्यों हैं ?
 - (३) आकाशमें गमन करना, रेलगाड़ीमें बैठना, कमरमें
स्थान मिलना, इनमें किन-किन द्रव्योंकी सहायता
मिलती है, स्पष्ट लिखो।
 - (४) निर्वृत्यपर्याप्तिक व लब्ध्यपर्याप्तिक जीव कब
और क्यों होते हैं? उदाहरण देकर लिखो।
 - (५) कल्यातीत किसके भेद हैं। खुलासा लिखो।

प्र.५- किसी एक विषय पर दो पेज में एक लेख लिखो। २०
 (१) हेत्वाभास (२) समनय।

प्रश्नपत्र

श्री भा० दि० जैन महासभा परीक्षाबोर्ड

(समय ३ घण्टे) मोक्षशास्त्र (पूर्वार्द्ध) (पूर्णांक १००)

सूचना- छः प्रश्नोंमेंसे कोई पांच प्रश्न हल कीजिये। सबके अंक समान हैं।

- प्र.१. संसारसे मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? जीवका स्वतत्त्व क्या है? नाम गिनाकर स्वरूप बताइये। गर्भ समूच्छीन और उपपाद जन्म किन प्राणियोंके होते हैं। एक गतिसे दूसरी गतिमें कौन ले जाता है। कुल भूमियाँ कितनी हैं और वे किनके आधित हैं।
- प्र.२. प्रमाण, नैगमनय, स्पर्शन, लेश्या, उपभोग, वर्तना, द्रव्य, गुण तत्त्व और मोक्ष इनसे आप क्या समझते हैं।
- प्र.३. निष्ठाकितोंमें अन्तर बताइये-
- नय-निक्षेप, पति-कुमति, द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय, पतिज्ञान-श्रुतज्ञान, विज्ञा-अभिनिबोध, संशय-ईहा, लाल्ब्ध-उपयोग।
- प्र.४. आधुनिक युगमें दुःखोंका कारण बताकर विश्लेषांति धर्मके द्वारा किस प्रकार हो सकती है, इस पर निबन्धके रूपमें प्रकाश डालिये।
- प्र.५. पुद्गलके उपकार और प्रदेश संख्या बताकर लौकांतिक देव कहां रहते हैं और उनकी विशेषता क्या है, लिखिये। तैजस शरीर और कार्मण शरीर किसे कहते हैं, वे किनके होते हैं?

प्र.६. पांचवें नरक और आठवें स्वर्गमें कितनी जघन्योत्कृष्ट आयु हैं। तीसरे क्षेत्र, पर्वत और तालाबका नाम तथा वहाँ रहनेवाली देवी और वहाँसे निकलनेवाली नदियोंके नाम बताइये।

प्रश्नपत्र

- (समय ३ घण्टे) मोक्षशास्त्र (उत्तरार्थ) (पूर्णाङ्क १००)
- नोट- निश्चांकितोंमेंसे कोई भी पांच प्रश्न कीजिये। सभी प्रश्नोंके अङ्क समान हैं।
- प्र.१. जबकि सम्यगदर्शन मोक्षका मार्ग है, तब उसे देव आयुर्ला करण क्यों कहा? सोलहकारण भावनाओंके नाम लिखकर समझाइये कि मिथ्यादृष्टि जीव विनयसम्प्रता आदि पञ्चह भावनाओंका पालन का तीर्थकर प्रकृतिका आश्रव कर सकता है? कारण सहित लिखिये।
- प्र.२. हिंसादि पंच यापोंकी अहिंसा आदि पांच अणुव्रतोंकी व्याख्या कीजिये। अणुव्रतोंके सहायक सात शीलके नाम लिखकर समझाइये कि वे अणुव्रतोंके पालनमें किस प्रकार सहायक हैं?
- प्र.३. दानका लक्षण पाद्यपुस्तकमें आये सूत्र द्वारा स्पष्ट कीजिये व समझाइये कि उस दानमें किन किन बातोंकी विशेषतासे विशेषता आती है।
- प्र.४. पुण्य और पापकी व्याख्या कर बताइये कि पुण्य प्रकृतियाँ एवं पाप प्रकृतियाँ कितनी व कौन कौनसी हैं? सामाधिक व स्वाध्याय पर तुलनात्मक विवेचन कर स्वाध्यायकी उपयोगिता वर्तमानमें क्यों अधिक मानी जाती है, संयुक्तिक विवेचन कीजिये।

- प्र.५. निशांकितोंमें किसी एक पर निबन्ध रचना कीजिये:-
 (१) मोक्षशास्वकी जीवनमें उपयोगिता (२) जैनधर्म
 की विशेषता। (३) भौतिक विज्ञान और आत्मज्ञान।
- प्र.६. निशांकितोंमें अन्तर प्रदर्शित कीजिए-
 मोक्षमार्ग-मोक्ष, भव्य-अभव्य, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, तत्त्व-इत्य,
 कल्पोपपत्र-कल्पातीत, नय-निष्केप।

प्रश्नपत्र

अ० भा० जैन परिषद् परीक्षा बोर्ड

(समय ३ घण्टे) मोक्षशास्व पूर्वार्द्ध (पूर्णाङ्क १००)

नोट- कोईभी पाँच प्रश्न कीजिए।

- प्र.१. ग्रन्थकारका नाम लिखकर उसका जीवन परिचय
 दीजिए।
- प्र.२. जम्बूद्वीपका चित्र खींचकर इसमें समस्त क्षेत्रोंको अङ्कित
 कीजिए।
- प्र.३. मोक्षमार्गके स्वरूपकी व्याख्या कीजिये।
- प्र.४. प्रमाण और नय से क्या समझते हो? इनकी स्पष्ट
 व्याख्या कीजिए।
- प्र.५. “तत्त्वार्थशब्दानपृ सम्यग्दर्शनम्” का अर्थ स्पष्ट कीजिये
 तथा सम्यग्दर्शनके महत्व पर प्रकाश डालिये।
- प्र.६. आचार्य कुन्दकुन्द अथवा चामुण्डरायका जीवन
 परिचय दीजिये।
- प्र.७. देव कितने प्रकारके होते हैं? लोकान्तिक देवोंमें अन्य
 देवोंकी अपेक्षा क्या विशेषताएँ हैं?
- प्र.८. द्रव्यका अर्थ लिखकर उसके भेद-प्रभेदोंका वर्णन

कीजिये तथा यह भी बतालाइये कि स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओंकी बन्धकी प्रक्रियाका क्या स्वरूप है?

- (समय ३ घण्टे) मोक्षशास्त्र पृष्ठ (पृष्ठांक १००)
परीक्षक डॉ० राजकुमार रैन, एम० ए०, पी-एच० डॉ०
नोट- कोईसे पांच प्रश्न कीजिए।
१. सातों तत्वोंके नाम लिखकर उनकी परिभाषा लिखिए।
 २. कर्म किसे कहते हैं? इनके नाम लिखो तथा यह भी बताओ कि ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके बन्धके क्या कारण हैं?
 ३. देवगति, मनुष्यगति तथा तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारण लिखो।
 ४. समिति किसे कहते हैं? समितिके भेद लिखकर यह बतलाइये कि दैनिक जीवनमें उनका क्या महत्व है?
 ५. द्रतोंके नाम लिखकर ब्रह्मचर्य द्रतपर प्रकाश डालिये।
 ६. सम्यग्चारित्रसे क्या समझते हो? समझाकर लिखिए।
 ७. निष्प्रलिखितपैसे किसी एक पर निष्पन्ध लिखिए।
- (अ) सम्यगदर्शनका महत्व।
- (ब) आत्मविकासकी दृष्टिसे मोक्षशास्त्रका मूल्याङ्कन।
- (स) जैन धर्मकी विशेषताएँ।